

अध्याय नौ

परम गुह्य ज्ञान

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।

ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; इदम्—इस; तु—लेकिन; ते—तुम्हारे लिए; गुह्य-तमम्—अत्यन्त गुह्य; प्रवक्ष्यामि—कह रहा हूँ; अनसूयवे—ईर्ष्या न करने वाले को; ज्ञानम्—ज्ञान को; विज्ञान—अनुभूत ज्ञान; सहितम्—सहित; यत्—जिसे; ज्ञात्वा—जानकर; मोक्ष्यसे—मुक्त हो सकोगे; अशुभात्—इस कष्टमय संसार से।

श्रीभगवान् ने कहा—हे अर्जुन! चूँकि तुम मुझसे कभी ईर्ष्या नहीं करते, इसलिए मैं तुम्हें यह परम गुह्यज्ञान तथा अनुभूति बतलाऊँगा, जिसे जानकर तुम संसार के सारे क्लेशों से मुक्त हो जाओगे।

तात्पर्य

ज्यों-ज्यों भक्त भगवान् के विषयों में अधिकाधिक सुनता है, त्यों-त्यों वह आत्मप्रकाशित होता जाता है। यह श्रवण विधि श्रीमद्भागवत में इस प्रकार अनुमोदित है—“भगवान् के संदेश शक्तियों से पूरित होते हैं जिनकी अनुभूति तभी होती है, जब भक्त जन भगवान् सम्बन्धी कथाओं की परस्पर चर्चा करते हैं। इसे मनोधर्मियों या विद्यालयीन विद्वानों के सान्निध्य से नहीं प्राप्त किया जा सकता, क्योंकि यह अनुभूत ज्ञान (विज्ञान) है।”

भक्तगण परमेश्वर की सेवा में निरन्तर लगे रहते हैं। भगवान् उस जीव विशेष की मानसिकता तथा निष्ठा से अवगत रहते हैं, जो कृष्णभावनाभावित होता है और उसे ही वे भक्तों के सान्निध्य में कृष्णविद्या

को समझने की बुद्धि प्रदान करते हैं। कृष्ण की चर्चा अत्यन्त शक्तिशाली है और यदि सौभाग्यवश किसी को ऐसी संगति प्राप्त हो जाये और वह इस ज्ञान को आत्मसात् करे तो वह आत्म-साक्षात्कार की दिशा में अवश्य प्रगति करेगा। कृष्ण अर्जुन को अपनी अलौकिक सेवा में उच्च से उच्चतर स्तर तक उत्साहित करने के उद्देश्य से इस नवें अध्याय में उसे परम गुह्य बातें बताते हैं जिन्हें इसके पूर्व उन्होंने अन्य किसी से प्रकट नहीं किया था।

भगवद्गीता का प्रथम अध्याय शेष ग्रंथ की भूमिका जैसा है, द्वितीय तथा तृतीय अध्याय में जिस आध्यात्मिक ज्ञान का वर्णन हुआ है वह गुह्य कहा गया है, सातवें तथा आठवें अध्याय में जिन विषयों की विवेचना हुई है वे भक्ति से सम्बन्धित हैं और कृष्णभावनामृत पर प्रकाश डालने के कारण गुह्यतर कहे गये हैं। किन्तु नवें अध्याय में तो अनन्य शुद्ध भक्ति का ही वर्णन हुआ है। फलस्वरूप यह परमगुह्य कहा गया है। जिसे कृष्ण का यह परमगुह्य ज्ञान प्राप्त है, वह दिव्य पुरुष है, अतः इस संसार में रहते हुए भी उसे भौतिक क्लेश नहीं सताते। *भक्तिरसामृत सिन्धु* में कहा गया है कि जिसमें भगवान् की प्रेमाभक्ति करने की उत्कृष्ट इच्छा होती है, वह भले ही इस जगत् में बद्ध अवस्था में रहता हो, किन्तु उसे मुक्त मानना चाहिए। इसी प्रकार *भगवद्गीता* के दसवें अध्याय में हम देखेंगे कि जो भी इस प्रकार लगा रहता है, वह मुक्त पुरुष है।

इस प्रथम श्लोक का विशिष्ट महत्त्व है। *इदं ज्ञानम्* (यह ज्ञान) शब्द शुद्धभक्ति के द्योतक हैं, जो नौ प्रकार की होती है—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्म-समर्पण। भक्ति के इन नौ तत्त्वों का अभ्यास करने से मनुष्य आध्यात्मिक चेतना अथवा कृष्णभावनामृत तक उठ पाता है। इस प्रकार, जब मनुष्य का हृदय भौतिक कल्मष से शुद्ध हो जाता है तो वह कृष्णविद्या को समझ सकता है। केवल यह जान लेना कि जीव भौतिक नहीं है, पर्याप्त नहीं होता। यह तो आत्मानुभूति का शुभारम्भ हो सकता है, किन्तु उस मनुष्य को शरीर के कार्यों तथा उस भक्त के आध्यात्मिक कार्यों के अन्तर को समझना होगा, जो यह जानता है कि वह शरीर नहीं है।

सातवें अध्याय में भगवान् की ऐश्वर्यमयी शक्ति, उनकी विभिन्न शक्तियों—परा तथा अपरा—तथा इस भौतिक जगत् का वर्णन किया जा चुका है। अब नवें अध्याय में भगवान् की महिमा का वर्णन किया जायेगा।

इस श्लोक का *अनसूयवे* शब्द भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सामान्यतया बड़े से बड़े विद्वान् भाष्यकार भी भगवान् कृष्ण से ईर्ष्या करते हैं। यहाँ तक कि बहुश्रुत विद्वान् भी *भगवद्गीता* के विषय में अशुद्ध व्याख्या करते हैं। चूँकि वे कृष्ण के प्रति ईर्ष्या रखते हैं, अतः उनकी टीकाएँ व्यर्थ होती हैं। केवल कृष्णभक्तों द्वारा की गई टीकाएँ ही प्रामाणिक हैं। कोई भी ऐसा व्यक्ति, जो कृष्ण के प्रति ईर्ष्यालु है, न तो *भगवद्गीता* की व्याख्या कर सकता है, न पूर्णज्ञान प्रदान कर सकता है। जो व्यक्ति कृष्ण को जाने बिना उनके चरित्र की आलोचना करता है, वह मूर्ख है। अतः ऐसी टीकाओं से सावधान रहना चाहिए। जो व्यक्ति यह समझते हैं कि कृष्ण भगवान् हैं और शुद्ध तथा दिव्य पुरुष हैं, उनके लिए ये अध्याय लाभप्रद होंगे।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।

प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

राज-विद्या—विद्याओं का राजा; राज-गुह्यम्—गोपनीय ज्ञान का राजा; पवित्रम्—शुद्धतम; इदम्—यह; उत्तमम्—दिव्य; प्रत्यक्ष—प्रत्यक्ष अनुभव से; अवगमम्—समझा गया; धर्म्यम्—धर्म; सु-सुखम्—अत्यन्त सुखी; कर्तुम्—सम्पन्न करने में; अव्ययम्—अविनाशी।

यह ज्ञान सब विद्याओं का राजा है, जो समस्त रहस्यों में सर्वाधिक गोपनीय है। यह परम शुद्ध है और चूँकि यह आत्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति कराने वाला है, अतः यह धर्म का सिद्धान्त है। यह अविनाशी है और अत्यन्त सुखपूर्वक सम्पन्न किया जाता है।

तात्पर्य

भगवद्गीता का यह अध्याय विद्याओं का राजा (राजविद्या) कहलाता है, क्योंकि यह पूर्ववर्ती व्याख्यायित समस्त सिद्धान्तों एवं दर्शनों का सार

है। भारत के प्रमुख दार्शनिक गौतम, कणाद, कपिल, याज्ञवल्क्य, शाण्डिल्य तथा वैश्वानर हैं। सबसे अन्त में व्यासदेव आते हैं, जो *वेदान्तसूत्र* के लेखक हैं। अतः दर्शन या दिव्यज्ञान के क्षेत्र में किसी प्रकार का अभाव नहीं है। अब भगवान् कहते हैं कि यह नवम अध्याय ऐसे समस्त ज्ञान का राजा है, यह वेदाध्ययन से प्राप्त ज्ञान एवं विभिन्न दर्शनों का सार है। यह गुह्यतम है, क्योंकि गुह्य या दिव्यज्ञान में आत्मा तथा शरीर के अन्तर को जाना जाता है। समस्त गुह्यज्ञान के इस राजा (राजविद्या) की पराकाष्ठा है, भक्तियोग।

सामान्यतया लोगों को इस गुह्यज्ञान की शिक्षा नहीं मिलती। उन्हें बाह्य शिक्षा दी जाती है। जहाँ तक सामान्य शिक्षा का सम्बन्ध है उसमें राजनीति, समाजशास्त्र, भौतिकी, रसायनशास्त्र, गणित, ज्योतिर्विज्ञान, इंजीनियरी आदि में मनुष्य व्यस्त रहते हैं। विश्वभर में ज्ञान के अनेक विभाग हैं और अनेक बड़े-बड़े विश्वविद्यालय हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश कोई ऐसा विश्वविद्यालय या शैक्षिक संस्थान नहीं है, जहाँ आत्म-विद्या की शिक्षा दी जाती हो। फिर भी आत्मा शरीर का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है, आत्मा के बिना शरीर महत्त्वहीन है। तो भी लोग आत्मा की चिन्ता न करके जीवन की शारीरिक आवश्यकताओं को अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं।

भगवद्गीता में द्वितीय अध्याय से ही आत्मा की महत्ता पर बल दिया गया है। प्रारम्भ में ही भगवान् कहते हैं कि यह शरीर नश्वर है और आत्मा अविनश्वर। (*अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः*)। यही ज्ञान का गुह्य अंश है—केवल यह जान लेना कि यह आत्मा शरीर से भिन्न है, यह निर्विकार, अविनाशी और नित्य है। इससे आत्मा के विषय में कोई सकारात्मक सूचना प्राप्त नहीं हो पाती। कभी-कभी लोगों को यह भ्रम रहता है कि आत्मा शरीर से भिन्न है और जब शरीर नहीं रहता या मनुष्य को शरीर से मुक्ति मिल जाती है तो आत्मा शून्य में रहता है और निराकार बन जाता है। किन्तु यह वास्तविकता नहीं है। जो आत्मा शरीर के भीतर इतना सक्रिय रहता है वह शरीर से मुक्त होने के बाद इतना निष्क्रिय कैसे हो सकता है? यह सदैव सक्रिय रहता है। यदि यह शाश्वत है, तो यह शाश्वत सक्रिय रहता है और वैकुण्ठलोक में इसके कार्यकलाप

अध्यात्मज्ञान के गुह्यतम अंश हैं। अतः आत्मा के कार्यों को यहाँ पर समस्त ज्ञान का राजा, समस्त ज्ञान का गुह्यतम अंश कहा गया है।

यह ज्ञान समस्त कार्यों का शुद्धतम रूप है, जैसा कि वैदिक साहित्य में बताया गया है। *पद्मपुराण* में मनुष्य के पापकर्मों का विश्लेषण किया गया है और दिखाया गया है कि ये पापों के फल हैं। जो लोग सकामकर्मों में लगे हुए हैं वे पापपूर्ण कर्मों के विभिन्न रूपों एवं अवस्थाओं में फँसे रहते हैं। उदाहरणार्थ, जब बीज बोया जाता है तो तुरन्त वृक्ष नहीं तैयार हो जाता, इसमें कुछ समय लगता है। पहले एक छोटा सा अंकुर रहता है, फिर यह वृक्ष का रूप धारण करता है, तब इसमें फूल आते हैं, फल लगते हैं और तब बीज बोने वाले व्यक्ति फूल तथा फल का उपभोग कर सकते हैं। इसी प्रकार जब कोई मनुष्य पापकर्म करता है, तो बीज की ही भाँति इसके भी फल मिलने में समय लगता है। इसमें भी कई अवस्थाएँ होती हैं। भले ही व्यक्ति में पापकर्मों का उदय होना बन्द हो चुका हो, किन्तु किये गये पापकर्म का फल तब भी मिलता रहता है। कुछ पाप तब भी बीज रूप में बचे रहते हैं, कुछ फलीभूत हो चुके होते हैं, जिन्हें हम दुख तथा वेदना के रूप में अनुभव करते हैं।

जैसा कि सातवें अध्याय के अट्टाईसवें श्लोक में बताया गया है जो व्यक्ति समस्त पापकर्मों के फलों (बन्धनों) का अन्त करके भौतिक जगत् के द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है, वह भगवान् कृष्ण की भक्ति में लग जाता है। दूसरे शब्दों में, जो लोग भगवद्भक्ति में लगे हुए हैं, वे समस्त कर्मफलों (बन्धनों) से पहले से मुक्त हुए रहते हैं। इस कथन की पुष्टि *पद्मपुराण* में हुई है—

अप्रारब्धफलं पापं कूटं बीजं फलोन्मुखम् ।

क्रमेणैव प्रलीयेत विष्णुभक्तिरतात्मनाम् ॥

जो लोग भगवद्भक्ति में रत हैं उनके सारे पापकर्म चाहे फलीभूत हो चुके हों, सामान्य हों या बीज रूप में हों, क्रमशः नष्ट हो जाते हैं। अतः भक्ति की शुद्धिकारिणी शक्ति अत्यन्त प्रबल है और *पवित्रम् उत्तमम्* अर्थात् विशुद्धतम कहलाती है। *उत्तम* का तात्पर्य दिव्य है। *तमस्* का अर्थ यह भौतिक जगत् या अंधकार है और *उत्तम* का अर्थ भौतिक कार्यों से परे

हुआ। भक्तिमय कार्यो को कभी भी भौतिक नहीं मानना चाहिए यद्यपि कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि भक्त भी सामान्य जनों की भाँति रत रहते हैं। जो व्यक्ति भक्ति से अवगत होता है, वही जान सकता है कि भक्तिमय कार्य भौतिक नहीं होते। वे आध्यात्मिक होते हैं और प्रकृति के गुणों से सर्वथा अदूषित होते हैं।

कहा जाता है कि भक्ति की सम्पन्नता इतनी पूर्ण होती है कि उसके फलों का प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। हमने अनुभव किया है कि जो व्यक्ति कृष्ण के पवित्र नाम (*हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे*) का कीर्तन करता है उसे जप करते समय कुछ दिव्य आनन्द का अनुभव होता है और वह तुरन्त ही समस्त भौतिक कल्मष से शुद्ध हो जाता है। ऐसा सचमुच दिखाई पड़ता है। यही नहीं, यदि कोई श्रवण करने में ही नहीं अपितु भक्तिकार्यों के सन्देश को प्रचारित करने में भी लगा रहता है या कृष्णभावनामृत के प्रचार कार्यो में सहायता करता है, तो उसे क्रमशः आध्यात्मिक उन्नति का अनुभव होता रहता है। आध्यात्मिक जीवन की यह प्रगति किसी पूर्व शिक्षा या योग्यता पर निर्भर नहीं करती। यह विधि स्वयं इतनी शुद्ध है कि इसमें लगे रहने से मनुष्य शुद्ध बन जाता है।

वेदान्तसूत्र में (३.२.२६) भी इसका वर्णन *प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्* के रूप में हुआ है, जिसका अर्थ है कि भक्ति इतनी समर्थ है कि भक्तिकार्यों में रत होने मात्र से बिना किसी संदेह के प्रकाश प्राप्त हो जाता है। इसका उदाहरण नारद जी के पूर्वजन्म में देखा जा सकता है, जो पहले दासी के पुत्र थे। वे न तो शिक्षित थे, न ही राजकुल में उत्पन्न हुए थे, किन्तु जब उनकी माता भक्तों की सेवा करती रहती थीं, नारद भी सेवा करते थे और कभी-कभी माता की अनुपस्थिति में भक्तों की सेवा स्वयं करते रहते थे। नारद स्वयं कहते हैं—

उच्छिष्टलेपाननुमोदितो द्विजैः

सकृत्स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्बिषः ।

एवं प्रवृत्तस्य विशुद्धचेतस-

स्तद्धर्म एवात्मरुचिः प्रजायते ॥

श्रीमद्भागवत के इस श्लोक में (१.५.२५) नारद जी अपने शिष्य व्यासदेव से अपने पूर्वजन्म का वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि पूर्वजन्म में बाल्यकाल में वे चातुर्मास में शुद्धभक्तों (भागवतों) की सेवा किया करते थे जिससे उन्हें उनकी संगति प्राप्त हुई। कभी-कभी वे ऋषि अपनी थालियों में उच्छिष्ट भोजन छोड़ देते और यह बालक थालियाँ धोते समय उच्छिष्ट भोजन को चखना चाहता था। अतः उसने उन ऋषियों से अनुमति माँगी और जब उन्होंने अनुमति दे दी तो बालक नारद उस उच्छिष्ट भोजन को खाता था। फलस्वरूप वह अपने समस्त पापकर्मों से मुक्त हो गया। ज्यों-ज्यों वह उच्छिष्ट खाता रहा त्यों-त्यों वह ऋषियों के समान शुद्ध-हृदय बनता गया। चूँकि वे महाभागवत भगवान् की भक्ति का आस्वाद श्रवण तथा कीर्तन द्वारा करते थे अतः नारद ने भी क्रमशः वैसी रुचि विकसित कर ली। नारद आगे कहते हैं—

तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायताम्

अनुग्रहेणाश्रुणवं मनोहराः ।

ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः

प्रियश्रवस्यंगं ममाभवद् रुचिः ॥

ऋषियों की संगति करने से नारद में भी भगवान् की महिमा के श्रवण तथा कीर्तन की रुचि उत्पन्न हुई और उन्होंने भक्ति की तीव्र इच्छा विकसित की। अतः जैसा कि वेदान्तसूत्र में कहा गया है—*प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्*—जो भगवद्भक्ति के कार्यों में केवल लगा रहता है उसे स्वतः सारी अनुभूति हो जाती है और वह सब समझने लगता है। इसी का नाम प्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष अनुभूति है।

धर्म्यम् शब्द का अर्थ है “धर्म का पथ”। नारद वास्तव में दासी पुत्र थे। उन्हें किसी पाठशाला में जाने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ था। वे केवल माता के कार्यों में सहायता करते थे और सौभाग्यवश उनकी माता को भक्तों की सेवा का सुयोग प्राप्त हुआ था। बालक नारद को भी यह सुअवसर उपलब्ध हो सका कि वे भक्तों की संगति करने से ही समस्त धर्म के परमलक्ष्य को प्राप्त कर सके। यह लक्ष्य है—भक्ति, जैसा कि श्रीमद्भागवत में कहा गया है (*स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे*)।

सामान्यतः धार्मिक व्यक्ति यह नहीं जानते कि धर्म का परमलक्ष्य भक्ति की प्राप्ति है जैसा कि हम पहले ही आठवें अध्याय के अन्तिम श्लोक की व्याख्या करते हुए कह चुके हैं (वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव) सामान्यतया आत्म-साक्षात्कार के लिए वैदिक ज्ञान आवश्यक है। किन्तु यहाँ पर नारद न तो किसी गुरु के पास पाठशाला में गये थे, न ही उन्हें वैदिक नियमों की शिक्षा मिली थी, तो भी उन्हें वैदिक अध्ययन के सर्वोच्च फल प्राप्त हो सके। यह विधि इतनी सशक्त है कि धार्मिक कृत्य किये बिना ही मनुष्य सिद्धि-पद को प्राप्त होता है। यह कैसे सम्भव होता है ? इसकी भी पुष्टि वैदिक साहित्य में मिलती है—*आचार्यवान् पुरुषो वेद*। महान आचार्यों के संसर्ग में रहकर मनुष्य आत्म-साक्षात्कार के लिए आवश्यक समस्त ज्ञान से अवगत हो जाता है, भले ही वह अशिक्षित हो या उसने वेदों का अध्ययन न किया हो।

भक्तियोग अत्यन्त सुखकर (*सुसुखम्*) होता है। ऐसा क्यों ? क्योंकि भक्ति में *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* रहता है, जिससे मनुष्य भगवान् की महिमा के कीर्तन को सुन सकता है, या प्रामाणिक आचार्यों द्वारा दिये गये दिव्यज्ञान के दार्शनिक भाषण सुन सकता है। मनुष्य केवल बैठे रहकर सीख सकता है, ईश्वर को अर्पित अच्छे स्वादिष्ट भोजन का उच्छिष्ट खा सकता है। प्रत्येक दशा में भक्ति सुखमय है। मनुष्य गरीबी की हालत में भी भक्ति कर सकता है। भगवान् कहते हैं—*पत्रं पुष्पं फलं तोयं*—वे भक्त से हर प्रकार की भेंट लेने को तैयार रहते हैं। चाहे पत्र हो, पुष्प हो, फल हो या थोड़ा सा जल, जो कुछ भी संसार के किसी भी कोने में उपलब्ध हो, या किसी व्यक्ति द्वारा, उसकी सामाजिक स्थिति पर विचार किये बिना, अर्पित किये जाने पर भगवान् को वह स्वीकार है, यदि उसे प्रेमपूर्वक चढ़ाया जाय। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त हैं। भगवान् के चरणकमलों पर चढ़े तुलसीदल का आस्वादन करके सनत्कुमार जैसे मुनि महान भक्त बन गये। अतः भक्तियोग अति उत्तम है और इसे प्रसन्न मुद्रा में सम्पन्न किया जा सकता है। भगवान् को तो वह प्रेम प्रिय है, जिससे उन्हें वस्तुएँ अर्पित की जाती हैं।

यहाँ पर कहा गया है कि भक्ति शाश्वत है। यह वैसी नहीं है, जैसा कि मायावादी चिन्तक साधिकार कहते हैं। यद्यपि वे कभी-कभी भक्ति करते हैं, किन्तु उनकी यह भावना रहती है कि जब तक मुक्ति न मिल जाये, तब तक उन्हें भक्ति करते रहना चाहिए, किन्तु अन्त में जब वे मुक्त हो जाएँगे तो ईश्वर से उनका तादात्म्य हो जाएगा। इस प्रकार की अस्थायी सीमित स्वार्थमय भक्ति शुद्ध भक्ति नहीं मानी जा सकती। वास्तविक भक्ति तो मुक्ति के बाद भी बनी रहती है। जब भक्त भगवद्धाम को जाता है तो वहाँ भी वह भगवान् की सेवा में रत हो जाता है। वह भगवान् से तदाकार नहीं होना चाहता।

जैसा कि *भगवद्गीता* में देखा जाएगा, वास्तविक भक्ति मुक्ति के बाद प्रारम्भ होती है। मुक्त होने पर जब मनुष्य ब्रह्मपद पर स्थित होता है (*ब्रह्मभूत*) तो उसकी भक्ति प्रारम्भ होती है (*समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्*)। कोई भी मनुष्य कर्मयोग, ज्ञानयोग, अष्टांगयोग या अन्य योग करके भगवान् को नहीं समझ सकता। इन योग-विधियों से भक्तियोग की दिशा में किंचित प्रगति हो सकती है, किन्तु भक्ति अवस्था को प्राप्त हुए बिना कोई भगवान् को समझ नहीं पाता। *श्रीमद्भागवत* में इसकी भी पुष्टि हुई है कि जब मनुष्य भक्तियोग सम्पन्न करके विशेष रूप से किसी महात्मा से *श्रीमद्भागवत* या *भगवद्गीता* सुनकर शुद्ध हो जाता है, तो वह कृष्णविद्या या तत्त्वज्ञान को समझ सकता है। *एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः*। जब मनुष्य का हृदय समस्त व्यर्थ की बातों से रहित हो जाता है, तो वह समझ सकता है कि ईश्वर क्या है। इस प्रकार भक्तियोग या कृष्णभावनामृत समस्त विद्याओं का राजा और समस्त गुह्यज्ञान का राजा है। यह धर्म का शुद्धतम रूप है और इसे बिना कठिनाई के सुखपूर्वक सम्पन्न किया जा सकता है। अतः मनुष्य को चाहिए कि इसे ग्रहण करे।

अश्रद्धानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप ।

अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अश्रद्धाधानाः—श्रद्धाविहीन; पुरुषाः—पुरुष; धर्मस्य—धर्म के प्रति; अस्य—इस;
परन्तप—हे शत्रुहन्ता; अप्राप्य—बिना प्राप्त किये; माम्—मुझको; निवर्तन्ते—लौटते
हैं; मृत्यु—मृत्यु के; संसार—संसार में; वर्त्मनि—पथ में।

हे परन्तप! जो लोग भक्ति में श्रद्धा नहीं रखते, वे मुझे प्राप्त नहीं कर पाते। अतः वे इस भौतिक जगत् में जन्म-मृत्यु के मार्ग पर वापस आते रहते हैं।

तात्पर्य

श्रद्धाविहीन के लिए भक्तियोग पाना कठिन है, यही इस श्लोक का तात्पर्य है। श्रद्धा तो भक्तों की संगति से उत्पन्न की जाती है। महापुरुषों से वैदिक प्रमाणों को सुनकर भी अभागे लोग ईश्वर में श्रद्धा नहीं रखते। वे झिझकते रहते हैं और भगवद्भक्ति में दृढ़ नहीं रहते। इस प्रकार कृष्णभावनामृत की प्रगति में श्रद्धा मुख्य है। *चैतन्यचरितामृत* में कहा गया है कि श्रद्धा तो यह पूर्ण विश्वास है कि परमेश्वर श्रीकृष्ण की ही सेवा द्वारा सारी सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। यही वास्तविक श्रद्धा है। *श्रीमद्भागवत* में (४.३१.१४) कहा गया है:—

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कंधभुजोपशाखाः ।

प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वाहर्णमच्युतेज्या ॥

“वृक्ष की जड़ को सींचने से उसकी डालें, टहनियाँ तथा पत्तियाँ तुष्ट होती हैं और आमाशय को भोजन प्रदान करने से शरीर की सारी इन्द्रियाँ तृप्त होती हैं। इसी तरह भगवान् की दिव्यसेवा करने से सारे देवता तथा अन्य समस्त जीव स्वतः प्रसन्न होते हैं।” अतः *गीता* पढ़ने के बाद मनुष्य को चाहिए कि वह *गीता* के इस निष्कर्ष को प्राप्त हो—मनुष्य को अन्य सारे कार्य छोड़कर भगवान् कृष्ण की सेवा करनी चाहिए। यदि वह इस जीवन-दर्शन से विश्वस्त हो जाता है, तो यही श्रद्धा है।

इस श्रद्धा का विकास कृष्णभावनामृत की विधि है। कृष्णभावनाभावित व्यक्तियों की तीन कोटियाँ हैं। तीसरी कोटि में वे लोग आते हैं जो श्रद्धाविहीन हैं। यदि ऐसे लोग ऊपर-ऊपर भक्ति में लगे भी रहें तो भी उन्हें सिद्ध अवस्था प्राप्त नहीं हो पाती। सम्भावना यही है कि वे लोग कुछ काल के बाद नीचे गिर जाएँ। वे भले ही भक्ति में लगे रहें, किन्तु पूर्ण विश्वास तथा श्रद्धा के अभाव में कृष्णभावनामृत में उनका लगा

रह पाना कठिन है। अपने प्रचार कार्यों के दौरान हमें इसका प्रत्यक्ष अनुभव है कि कुछ लोग आते हैं और किन्हीं गुप्त उद्देश्यों से कृष्णभावनामृत को ग्रहण करते हैं। किन्तु जैसे ही उनकी आर्थिक दशा कुछ सुधर जाती है कि वे इस विधि को त्यागकर पुनः पुराने ढर्रे पर लग जाते हैं। कृष्णभावनामृत में केवल श्रद्धा के द्वारा ही प्रगति की जा सकती है। जहाँ तक श्रद्धा की बात है, जो व्यक्ति भक्ति-साहित्य में निपुण है और जिसने दृढ़ श्रद्धा की अवस्था प्राप्त कर ली है, वह कृष्णभावनामृत का प्रथम कोटि का व्यक्ति कहलाता है। दूसरी कोटि में वे व्यक्ति आते हैं जिन्हें भक्ति-शास्त्रों का ज्ञान नहीं है, किन्तु स्वतः ही उनकी दृढ़ श्रद्धा है कि कृष्णभक्ति सर्वश्रेष्ठ मार्ग है, अतः वे इसे ग्रहण करते हैं। इस प्रकार वे तृतीय कोटि के उन लोगों से श्रेष्ठतर हैं, जिन्हें न तो शास्त्रों का पूर्णज्ञान है और न श्रद्धा ही है, अपितु संगति तथा सरलता के द्वारा वे उसका पालन करते हैं। तृतीय कोटि के व्यक्ति कृष्णभावनामृत से च्युत हो सकते हैं, किन्तु द्वितीय कोटि के व्यक्ति च्युत नहीं होते। प्रथम कोटि के लोगों के च्युत होने का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रथम कोटि के व्यक्ति निश्चित रूप से प्रगति करके अन्त में अभीष्ट फल प्राप्त करते हैं। तृतीय कोटि के व्यक्ति को यह श्रद्धा तो रहती है कि कृष्ण की भक्ति उत्तम होती है, किन्तु *भागवत* तथा *गीता* जैसे शास्त्रों से उसे कृष्ण का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता। कभी-कभी इस तृतीय कोटि के व्यक्तियों की प्रवृत्ति कर्मयोग तथा ज्ञानयोग की ओर रहती है और कभी-कभी वे विचलित होते रहते हैं, किन्तु ज्योंही उनसे ज्ञान तथा कर्मयोग का संदूषण निकल जाता है, वे कृष्णभावनामृत की द्वितीय कोटि या प्रथम कोटि में प्रविष्ट होते हैं। कृष्ण के प्रति श्रद्धा भी तीन अवस्थाओं में विभाजित है और *श्रीमद्भागवत* में इनका वर्णन है। *भागवत* के ग्यारहवें स्कंध में प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय कोटि की आस्तिकता का भी वर्णन हुआ है। जो लोग कृष्ण के विषय में तथा भक्ति की श्रेष्ठता को सुनकर भी श्रद्धा नहीं रखते और यह सोचते हैं कि यह मात्र प्रशंसा है, उन्हें यह मार्ग अत्यधिक कठिन जान पड़ता है, भले ही वे ऊपर से भक्ति में रत क्यों न हों। उन्हें सिद्धि प्राप्त होने की बहुत कम आशा है। इस प्रकार भक्ति करने के लिए श्रद्धा परमावश्यक है।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

मया—मेरे द्वारा; ततम्—व्याप्त है; इदम्—यह; सर्वम्—समस्त; जगत्—दृश्य जगत्;
अव्यक्त-मूर्तिना—अव्यक्त रूप द्वारा; मत्-स्थानि—मुझमें; सर्व-भूतानि—समस्त जीव;
न—नहीं; च—भी; अहम्—मैं; तेषु—उनमें; अवस्थितः—स्थित ।

यह सम्पूर्ण जगत् मेरे अव्यक्त रूप द्वारा व्याप्त है। समस्त
जीव मुझमें हैं, किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ।

तात्पर्य

भगवान् की अनुभूति स्थूल इन्द्रियों से नहीं हो पाती। कहा गया है
कि—

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः ।

सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः ॥

(भक्तिरसामृत सिन्धु १.२.२३४) भगवान् श्रीकृष्ण
के नाम, यश, लीलाओं आदि को भौतिक इन्द्रियों से नहीं समझा जा
सकता। जो समुचित निर्देशन से भक्ति में लगा रहता है उसे ही भगवान् का
साक्षात्कार हो पाता है। *ब्रह्मसंहिता* में (५.३८) कहा गया है—
प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति—यदि
किसी ने भगवान् के प्रति दिव्य प्रेमाभिरुचि उत्पन्न कर ली है, तो वह सदैव
अपने भीतर तथा बाहर भगवान् गोविन्द को देख सकता है। इस प्रकार वे
सामान्यजनों के लिए दृश्य नहीं हैं। यहाँ पर कहा गया है कि यद्यपि
भगवान् सर्वव्यापी हैं और सर्वत्र उपस्थित रहते हैं, किन्तु वे भौतिक
इन्द्रियों द्वारा अनुभवगम्य नहीं हैं। इसका संकेत *अव्यक्तमूर्तिना* शब्द द्वारा
हुआ है। भले ही हम उन्हें न देख सकें, किन्तु वास्तविकता तो यह है कि
उन्हीं पर सब कुछ आश्रित है। जैसा कि सातवें अध्याय में बताया जा चुका
है कि सम्पूर्ण दृश्य जगत् उनकी दो विभिन्न शक्तियों—परा या आध्यात्मिक
शक्ति तथा अपरा या भौतिक शक्ति—का संयोग मात्र है। जिस प्रकार
सूर्यप्रकाश सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में फैला रहता है उसी प्रकार भगवान् की शक्ति
सम्पूर्ण सृष्टि में फैली है और सारी वस्तुएँ उसी शक्ति पर टिकी हैं।

फिर भी किसी को इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचना चाहिए कि सर्वत्र फैले रहने के कारण भगवान् ने अपनी व्यक्तिगत सत्ता खो दी है। ऐसे तर्क का निराकरण करने के लिए ही भगवान् कहते हैं “मैं सर्वत्र हूँ और प्रत्येक वस्तु मुझमें है तो भी मैं पृथक् हूँ।” उदाहरणार्थ, राजा किसी सरकार का अध्यक्ष होता है और सरकार उसकी शक्ति का प्राकट्य होती है, विभिन्न सरकारी विभाग राजा की शक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं होते और प्रत्येक विभाग राजा की क्षमता पर निर्भर रहता है। तो भी राजा से यह आशा नहीं की जाती कि वह प्रत्येक विभाग में स्वयं उपस्थित हो। यह एक मोटा सा उदारहण दिया गया। इसी प्रकार हम जितने स्वरूप देखते हैं और जितनी भी वस्तुएँ इस लोक में तथा परलोक में विद्यमान हैं वे सब भगवान् की शक्ति पर आश्रित हैं। सृष्टि की उत्पत्ति भगवान् की विभिन्न शक्तियों के विस्तार से होती है और जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नम्*—वे अपने साकार रूप के कारण अपनी विभिन्न शक्तियों के विस्तार से सर्वत्र विद्यमान हैं।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।

भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; च—भी; मत्-स्थानि—मुझमें स्थित; भूतानि—सारी सृष्टि; पश्य—देखो; मे—मेरा; योगम् ऐश्वर्यम्—अचिन्त्य योगशक्ति; भूत-भृत्—समस्त जीवों का पालक; न—नहीं; च—भी; भूत-स्थः—विराट अभिव्यक्ति में; मम—मेरा; आत्मा—स्व, आत्म; भूत-भावनः—समस्त अभिव्यक्तियों का स्रोत।

तथापि मेरे द्वारा उत्पन्न सारी वस्तुएँ मुझमें स्थित नहीं रहतीं। जरा, मेरे योग-ऐश्वर्य को देखो! यद्यपि मैं समस्त जीवों का पालक (भर्ता) हूँ और सर्वत्र व्याप्त हूँ, लेकिन मैं इस विराट अभिव्यक्ति का अंश नहीं हूँ, क्योंकि मैं सृष्टि का कारणस्वरूप हूँ।

तात्पर्य

भगवान् का कथन है कि सब कुछ उन्हीं पर आश्रित है (*मत्स्थानि सर्वभूतानि*)। इसका अन्य अर्थ नहीं लगाना चाहिए। भगवान् इस भौतिक जगत् के पालन तथा निर्वाह के लिए प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी नहीं हैं। कभी-कभी हम एटलस (एक रोमन देवता) को अपने कंधों पर गोला उठाये देखते हैं, वह अत्यन्त थका लगता है और इस विशाल पृथ्वीलोक को धारण किये रहता है। हमें किसी ऐसे चित्र को मन में नहीं लाना चाहिए, जिसमें कृष्ण इस सृजित ब्रह्माण्ड को धारण किये हुए हों। उनका कहना है कि यद्यपि सारी वस्तुएँ उन पर टिकी हैं, किन्तु वे पृथक् रहते हैं। सारे लोक अन्तरिक्ष में तैर रहे हैं और यह अन्तरिक्ष परमेश्वर की शक्ति है। किन्तु वे अन्तरिक्ष से भिन्न हैं, वे पृथक् स्थित हैं। अतः भगवान् कहते हैं “यद्यपि ये सब रचित पदार्थ मेरी अचिन्त्य शक्ति पर टिके हैं, किन्तु भगवान् के रूप में मैं उनसे पृथक् रहता हूँ।” यह भगवान् का अचिन्त्य ऐश्वर्य है।

वैदिककोश *निरुक्ति* में कहा गया है— *युज्यतेऽनेन दुर्घटेषु कार्येषु*— परमेश्वर अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते हुए अचिन्त्य आश्चर्यजनक लीलाएँ कर रहे हैं। उनका व्यक्तित्व विभिन्न शक्तियों से पूर्ण है और उनका संकल्प स्वयं एक तथ्य है। भगवान् को इसी रूप में समझना चाहिए। हम कोई काम करना चाहते हैं, तो अनेक विघ्न आते हैं और कभी-कभी हम जो चाहते हैं वह नहीं कर पाते। किन्तु जब कृष्ण कोई कार्य करना चाहते हैं, तो सब कुछ इतनी पूर्णता से सम्पन्न हो जाता है कि कोई सोच नहीं पाता कि यह सब कैसे हुआ। भगवान् इसी तथ्य को समझाते हैं—यद्यपि वे समस्त सृष्टि के पालक तथा धारणकर्ता हैं, किन्तु वे इस सृष्टि का स्पर्श नहीं करते। केवल उनकी परम इच्छा से प्रत्येक वस्तु का सृजन, धारण, पालन एवं संहार होता है। उनके मन और स्वयं उनमें कोई भेद नहीं है जैसा हमारे भौतिक मन में और स्वयं हम में भेद होता है, क्योंकि वे परमात्मा हैं। साथ ही वे प्रत्येक वस्तु में उपस्थित रहते हैं, किन्तु सामान्य व्यक्ति यह नहीं समझ पाता कि वे साकार रूप में किस तरह उपस्थित हैं। वे भौतिक जगत् से भिन्न हैं तो भी प्रत्येक वस्तु उन्हीं पर आश्रित है। यहाँ पर इसे ही *योगम् ऐश्वर्यम्* अर्थात् भगवान् की योगशक्ति कहा गया है।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; आकाश-स्थितः—आकाश में स्थित; नित्यम्—सदैव; वायुः—हवा; सर्वत्र-गः—सभी जगह बहने वाली; महान्—महान; तथा—उसी प्रकार; सर्वाणि भूतानि—सारे प्राणी; मत्-स्थानि—मुझमें स्थित; इति—इस प्रकार; उपधारय—समझो ।

जिस प्रकार सर्वत्र प्रवहमान प्रबल वायु सदैव आकाश में स्थित रहती है, उसी प्रकार समस्त उत्पन्न प्राणियों को मुझमें स्थित जानो ।

तात्पर्य

सामान्यजन के लिए यह समझ पाना कठिन है कि इतनी विशाल सृष्टि भगवान् पर किस प्रकार आश्रित है। किन्तु भगवान् उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जिससे हमें समझने में सहायता मिले। आकाश हमारी कल्पना के लिए सबसे महान अभिव्यक्ति है और उस आकाश में वायु विराट् जगत् की सबसे महान अभिव्यक्ति है। वायु की गति से प्रत्येक वस्तु की गति प्रभावित होती है। किन्तु वायु महान होते हुए भी आकाश के अन्तर्गत ही स्थित रहती है, वह आकाश से परे नहीं होती। इसी प्रकार समस्त विचित्र विराट् अभिव्यक्तियों का अस्तित्व भगवान् की परम इच्छा के फलस्वरूप है और वे सब इस परम इच्छा के अधीन हैं जैसा कि हमलोग प्रायः कहते हैं उनकी इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु उनकी इच्छा के अधीन गतिशील है, उनकी ही इच्छा से सारी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, उनका पालन होता है और उनका संहार होता है। इतने पर भी वे प्रत्येक वस्तु से उसी तरह पृथक् रहते हैं, जिस प्रकार वायु के कार्यों से आकाश रहता है।

उपनिषदों में कहा गया है—*यद्भीषा वातः पवते*—“वायु भगवान् के भय से प्रवाहित होती है” (तैत्तिरीय उपनिषद् २.८.१)। बृहदारण्यक उपनिषद् में (३.८.९) कहा गया है—*एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी सूर्यचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी द्यावापृथिव्यौ*

विधृतौ तिष्ठतः—“ भगवान् की अध्यक्षता में परमादेश से चन्द्रमा, सूर्य तथा अन्य विशाल लोक घूम रहे हैं।” ब्रह्मसंहिता में (५.५२) भी कहा गया है—

यच्चक्षुरेष सविता सकलग्रहाणां
 राजा समस्तसुरमूर्तिरशेषतेजाः ।
 यस्याज्ञया भ्रमति सम्भृतकालचक्रो
 गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि ॥

यह सूर्य की गति का वर्णन है। कहा गया है कि सूर्य भगवान् का एक नेत्र है और इसमें ताप तथा प्रकाश फैलाने की अपार शक्ति है। तो भी यह गोविन्द की परम इच्छा और आदेश के अनुसार अपनी कक्षा में घूमता रहता है। अतः हमें वैदिक साहित्य से इसके प्रमाण प्राप्त हैं कि यह विचित्र तथा विशाल लगने वाली भौतिक सृष्टि पूरी तरह भगवान् के वश में है। इसकी व्याख्या इसी अध्याय के अगले श्लोकों में की गई है।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
 कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

सर्व-भूतानि—सारे प्राणी; कौन्तेय—हे कुन्तीपुत्र; प्रकृतिम्—प्रकृति में; यान्ति—प्रवेश करते हैं; मामिकाम्—मेरी; कल्प-क्षये—कल्पान्त में; पुनः—फिर से; तानि—उन सबों को; कल्प-आदौ—कल्प के प्रारम्भ में; विसृजामि—उत्पन्न करता हूँ; अहम्—मैं।

हे कुन्तीपुत्र! कल्प का अन्त होने पर सारे प्राणी मेरी प्रकृति में प्रवेश करते हैं और अन्य कल्प के आरम्भ होने पर मैं उन्हें अपनी शक्ति से पुनः उत्पन्न करता हूँ।

तात्पर्य

इस विराट भौतिक अभिव्यक्ति का सृजन, पालन तथा संहार पूर्णतया भगवान् की परम इच्छा पर निर्भर है। कल्पक्षये का अर्थ है, ब्रह्मा की मृत्यु होने पर। ब्रह्मा एक सौ वर्ष जीवित रहते हैं और उनका एक दिन हमारे ४,३०,००,००,००० वर्षों के तुल्य है। रात्रि भी इतने ही वर्षों की होती है। ब्रह्मा के एक महीने में ऐसे तीस दिन तथा तीस रातें होती हैं और उनके

एक वर्ष में ऐसे बारह महीने होते हैं। ऐसे एक सौ वर्षों के बाद जब ब्रह्मा की मृत्यु होती है, तो प्रलय हो जाता है, जिसका अर्थ है कि भगवान् द्वारा प्रकट शक्ति पुनः सिमट कर उन्हीं में चली जाती है। पुनः जब विराटजगत को प्रकट करने की आवश्यकता होती है तो उनकी इच्छा से सृष्टि उत्पन्न होती है। *एकोऽहं बहु स्याम्*—यद्यपि मैं अकेला हूँ, किन्तु मैं अनेक हो जाऊँगा। यह वैदिक सूक्ति है (छान्दोग्य उपनिषद् ६.२.३)। वे इस भौतिक शक्ति में अपना विस्तार करते हैं और सारी विराट अभिव्यक्ति पुनः घटित हो जाती है।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।

भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

प्रकृतिम्—प्रकृति में; स्वाम्—मेरी निजी; अवष्टभ्य—प्रवेश करके; विसृजामि—उत्पन्न करता हूँ; पुनः पुनः—बारम्बार; भूत-ग्रामम्—समस्त विराट अभिव्यक्ति को; इमम्—इस; कृत्स्नम्—पूर्णतः; अवशम्—स्वतः; प्रकृतेः—प्रकृति की शक्ति के; वशात्—वश में।

सम्पूर्ण विराट जगत मेरे अधीन है। यह मेरी इच्छा से बारम्बार स्वतः प्रकट होता रहता है और मेरी ही इच्छा से अन्त में विनष्ट होता है।

तात्पर्य

यह भौतिक जगत् भगवान् की अपराशक्ति की अभिव्यक्ति है। इसकी व्याख्या कई बार की जा चुकी है। सृष्टि के समय यह शक्ति महत्त्व के रूप में प्रकट होती है जिसमें भगवान् अपने प्रथम पुरुष अवतार, महाविष्णु, के रूप में प्रवेश कर जाते हैं। वे कारणार्णव में शयन करते रहते हैं और अपने श्वास से असंख्य ब्रह्माण्ड निकालते हैं और इन ब्रह्माण्डों में से हर एक में वे गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक ब्रह्माण्ड की सृष्टि होती है। वे इससे भी आगे अपने आपको क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में प्रकट करते हैं और यह विष्णु प्रत्येक वस्तु में, यहाँ तक कि प्रत्येक अणु में प्रवेश कर जाते हैं। इसी तथ्य की व्याख्या यहाँ हुई है। भगवान् प्रत्येक वस्तु में प्रवेश करते हैं।

जहाँ तक जीवात्माओं का सम्बन्ध है, वे इस भौतिक प्रकृति में गर्भस्थ किये जाते हैं और वे अपने-अपने पूर्वकर्मों के अनुसार विभिन्न योनियाँ ग्रहण करते हैं। इस प्रकार इस भौतिक जगत् के कार्यकलाप प्रारम्भ होते हैं। विभिन्न जीव-योनियों के कार्यकलाप सृष्टि के समय से ही प्रारम्भ हो जाते हैं। ऐसा नहीं है कि ये योनियाँ क्रमशः विकसित होती हैं। सारी की सारी योनियाँ ब्रह्माण्ड की सृष्टि के साथ ही उत्पन्न होती हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी—ये सभी एकसाथ उत्पन्न होते हैं, क्योंकि पूर्व प्रलय के समय जीवों की जो-जो इच्छाएँ थीं वे पुनः प्रकट होती हैं। इसका स्पष्ट संकेत *अवशम्* शब्द से मिलता है कि जीवों को इस प्रक्रिया से कोई सरोकार नहीं रहता। पूर्व सृष्टि में वे जिस-जिस अवस्था में थे, वे उस-उस अवस्था में पुनः प्रकट हो जाते हैं और यह सब भगवान् की इच्छा से ही सम्पन्न होता है। यही भगवान् की अचिन्त्य शक्ति है। विभिन्न योनियों को उत्पन्न करने के बाद भगवान् का उनसे कोई नाता नहीं रह जाता। यह सृष्टि विभिन्न जीवों की रुचियों को पूरा करने के उद्देश्य से की जाती है। अतः भगवान् इसमें किसी तरह से बद्ध नहीं होते हैं।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।

उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; च—भी; माम्—मुझको; तानि—वे; कर्माणि—कर्म; निबध्नन्ति—बाँधते हैं; धनञ्जय—हे धन के विजेता; उदासीन-वत्—निरपेक्ष या तटस्थ की तरह; आसीनम्—स्थित हुआ; असक्तम्—आसक्तिरहित; तेषु—उन; कर्मसु—कार्यों में।

हे धनञ्जय! ये सारे कर्म मुझे नहीं बाँध पाते हैं। मैं उदासीन की भाँति इन सारे भौतिक कर्मों से सदैव विरक्त रहता हूँ।

तात्पर्य

इस प्रसंग में यह नहीं सोच लेना चाहिए कि भगवान् के पास कोई काम नहीं है। वे अपने वैकुण्ठलोक में सदैव व्यस्त रहते हैं। *ब्रह्मसंहिता* में (५.६) कहा गया है—*आत्मारामस्य तस्यास्ति प्रकृत्या न समागमः*—वे

सतत दिव्य आनन्दमय आध्यात्मिक कार्यों में रत रहते हैं, किन्तु इन भौतिक कार्यों से उनका कोई सरोकार नहीं रहता। सारे भौतिक कार्य उनकी विभिन्न शक्तियों द्वारा सम्पन्न होते रहते हैं। वे सदा ही इस सृष्टि के भौतिक कार्यों के प्रति उदासीन रहते हैं। इस उदासीनता को ही यहाँ पर उदासीनवत् कहा गया है। यद्यपि छोटे से छोटे भौतिक कार्य पर उनका नियन्त्रण रहता है, किन्तु वे उदासीनवत् स्थित रहते हैं। यहाँ पर उच्च न्यायालय के न्यायाधीश का उदाहरण दिया जा सकता है, जो अपने आसन पर बैठा रहता है। उसके आदेश से अनेक तरह की बातें घटती रहती हैं—किसी को फाँसी दी जाती है, किसी को कारावास की सजा मिलती है, तो किसी को प्रचुर धनराशि मिलती है, तो भी वह उदासीन रहता है। उसे इस हानि-लाभ से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता। इसी प्रकार भगवान् भी सदैव उदासीन रहते हैं, यद्यपि प्रत्येक कार्य में उनका हाथ रहता है। वेदान्तसूत्र में (२.१.३४) यह कहा गया है—*वैषम्यनैर्घृण्ये न*—वे इस जगत् के द्वन्द्वों में स्थित नहीं हैं। वे इन द्वन्द्वों से अतीत हैं। न ही इस जगत् की सृष्टि तथा प्रलय में ही उनकी आसक्ति रहती है। सारे जीव अपने पूर्वकर्मों के अनुसार विभिन्न योनियाँ ग्रहण करते रहते हैं और भगवान् इसमें कोई व्यवधान नहीं डालते।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

शब्दार्थ

मया—मेरे द्वारा; अध्यक्षेण—अध्यक्षता के कारण; प्रकृतिः—प्रकृति; सूयते—प्रकट होती है; स—सहित; चर-अचरम्—जड़ तथा जंगम; हेतुना—कारण से; अनेन—इस; कौन्तेय—हे कुन्तीपुत्र; जगत्—दृश्य जगत्; विपरिवर्तते—क्रियाशील है।

हे कुन्तीपुत्र! यह भौतिक प्रकृति मेरी शक्तियों में से एक है और मेरी अध्यक्षता में कार्य करती है, जिससे सारे चर तथा अचर प्राणी उत्पन्न होते हैं। इसके शासन में यह जगत् बारम्बार सृजित और विनष्ट होता रहता है।

तात्पर्य

यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि यद्यपि परमेश्वर इस जगत् के समस्त कार्यों से पृथक् रहते हैं, किन्तु इसके परम अध्यक्ष (निर्देशक) वही बने रहते हैं। परमेश्वर परम इच्छामय हैं और इस भौतिक जगत् के आधारभूमिस्वरूप हैं, किन्तु इसकी सभी व्यवस्था प्रकृति द्वारा की जाती है। *भगवद्गीता* में भी कृष्ण यह कहते हैं—“मैं विभिन्न योनियों और रूपों वाले जीवों का पिता हूँ।” जिस तरह पिता बालक उत्पन्न करने के लिए माता के गर्भ में वीर्य स्थापित करता है, उसी प्रकार परमेश्वर अपनी चितवन मात्र से प्रकृति के गर्भ में जीवों को प्रविष्ट करते हैं और वे अपनी अन्तिम इच्छाओं तथा कर्मों के अनुसार विभिन्न रूपों तथा योनियों में प्रकट होते हैं। अतः भगवान् इस जगत् से प्रत्यक्ष रूप में आसक्त नहीं होते। वे प्रकृति पर दृष्टिपात करते हैं, इस तरह प्रकृति क्रियाशील हो उठती है और तुरन्त ही सारी वस्तुएँ उत्पन्न हो जाती हैं। चूँकि वे प्रकृति पर दृष्टिपात करते हैं, इसलिए परमेश्वर की ओर से तो निःसन्देह क्रिया होती है, किन्तु भौतिक जगत् के प्राकट्य से उन्हें कुछ लेना-देना नहीं रहता। स्मृति में एक उदाहरण मिला है जो इस प्रकार है—जब किसी व्यक्ति के समक्ष फूल होता है तो उसे उसकी सुगन्धि मिलती रहती है, किन्तु फूल तथा सुगन्धि एक दूसरे से विलग रहते हैं। ऐसा ही सम्बन्ध भौतिक जगत् तथा भगवान् के बीच भी है। वस्तुतः भगवान् को इस जगत् से कोई प्रयोजन नहीं रहता, किन्तु वे ही इसे अपने दृष्टिपात से उत्पन्न करते तथा व्यवस्थित करते हैं। सारांश के रूप में हम कह सकते हैं कि परमेश्वर की अध्यक्षता के बिना प्रकृति कुछ भी नहीं कर सकती। तो भी भगवान् समस्त कार्यों से पृथक् रहते हैं।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अवजानन्ति—उपहास करते हैं; माम्—पुझको; मूढाः—मूर्ख व्यक्ति; मानुषीम्—मनुष्य रूप में; तनुम्—शरीर; आश्रितम्—मानते हुए; परम्—दिव्य; भावम्—स्वभाव को; अजानन्तः—न जानते हुए; मम—मेरा; भूत—प्रत्येक वस्तु का; महा-ईश्वरम्—परम स्वामी ।

जब मैं मनुष्य रूप में अवतरित होता हूँ, तो मूर्ख मेरा उपहास करते हैं। वे मुझ परमेश्वर के दिव्य स्वभाव को नहीं जानते।

तात्पर्य

इस अध्याय के पूर्ववर्ती श्लोकों से यह स्पष्ट है कि यद्यपि भगवान् मनुष्य रूप में प्रकट होते हैं, किन्तु वे सामान्य व्यक्ति नहीं होते। जो भगवान् सारे विराट जगत् का सृजन, पालन तथा संहार करता हो वह मनुष्य नहीं हो सकता। तो भी ऐसे अनेक मूर्ख हैं, जो कृष्ण को एक शक्तिशाली पुरुष के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते। वस्तुतः वे आदि परमपुरुष हैं, जैसा कि *ब्रह्मसंहिता* में प्रमाण स्वरूप कहा गया है—*ईश्वरः परमः कृष्णः*—वे परम ईश्वर हैं।

ईश्वर या नियन्ता अनेक हैं और वे एक दूसरे से बढ़कर प्रतीत होते हैं। भौतिक जगत् में सामान्य प्रबन्धकार्यों का कोई न कोई निर्देशक होता है, जिसके ऊपर एक सचिव होता है, फिर उसके ऊपर मन्त्री तथा उससे भी ऊपर राष्ट्रपति होता है। इनमें से हर एक नियन्त्रक होता है, किन्तु एक दूसरे के द्वारा नियन्त्रित होता है। *ब्रह्मसंहिता* में कहा गया है कि कृष्ण परम नियन्ता हैं। निस्सन्देह भौतिक जगत् तथा वैकुण्ठलोक दोनों में ही कई-कई निर्देशक होते हैं, किन्तु कृष्ण परम नियन्ता हैं (*ईश्वरः परमः कृष्णः*) तथा उनका शरीर सच्चिदानन्द रूप अर्थात् अभौतिक होता है।

पिछले श्लोकों में जिन अद्भुत कार्यकलापों का वर्णन हुआ है, वे भौतिक शरीर द्वारा सम्पन्न नहीं हो सकते। कृष्ण का शरीर सच्चिदानन्द रूप है। यद्यपि वे सामान्य व्यक्ति नहीं हैं, किन्तु मूर्ख लोग उनका उपहास करते हैं और उन्हें मनुष्य मानते हैं। उनका शरीर यहाँ *मानुषीम्* कहा गया है, क्योंकि वे कुरुक्षेत्र युद्ध में एक राजनीतिज्ञ और अर्जुन के मित्र की भाँति सामान्य व्यक्ति बनकर कर्म करते हैं। वे अनेक प्रकार से सामान्य पुरुष की भाँति कर्म करते हैं, किन्तु उनका शरीर सच्चिदानन्द विग्रह रूप है। इसकी पुष्टि वैदिक साहित्य में भी हुई है। *सच्चिदानन्द रूपाय कृष्णाय*—मैं भगवान् कृष्ण को नमस्कार करता हूँ जो सच्चिदानन्द रूप हैं (*गोपाल तापनी उपनिषद् १.१*)। वेदों में ऐसे अन्य वर्णन भी हैं। *तमेकं गोविन्दम्*—आप

इन्द्रियों तथा गायों के आनन्दस्वरूप गोविन्द हैं। *सच्चिदानन्दविग्रहम्*—तथा आपका रूप सच्चिदानन्द स्वरूप है (*गोपाल-तापनी उपनिषद् १.३५*)।

भगवान् कृष्ण के सच्चिदानन्दस्वरूप होने पर भी ऐसे अनेक तथाकथित विद्वान् तथा *भगवद्गीता* के टीकाकार हैं जो कृष्ण को सामान्य पुरुष कहकर उनका उपहास करते हैं। भले ही अपने पूर्व पुण्यों के कारण विद्वान् असाधारण व्यक्ति के रूप में पैदा हुआ हो, किन्तु श्रीकृष्ण के बारे में ऐसी धारणा उसकी अल्पज्ञता के कारण होती है। इसीलिए वह मूढ कहलाता है, क्योंकि मूर्ख पुरुष ही कृष्ण को सामान्य पुरुष मानते हैं। ऐसे मूर्ख कृष्ण को सामान्य व्यक्ति इसीलिए मानते हैं, क्योंकि वे कृष्ण के गुह्य कर्मों तथा उनकी विभिन्न शक्तियों से अपरिचित होते हैं। वे यह नहीं जानते कि कृष्ण का शरीर पूर्णज्ञान तथा आनन्द का प्रतीक है, वे प्रत्येक वस्तु के स्वामी हैं और किसी को भी मुक्ति प्रदान करने वाले हैं। चूँकि वे कृष्ण के इतने सारे दिव्य गुणों को नहीं जानते, इसीलिए उनका उपहास करते हैं।

ये मूढ यह भी नहीं जानते कि इस जगत् में भगवान् का अवतरण उनकी अन्तरंगा शक्ति का प्राकट्य है। वे भौतिक शक्ति (माया) के स्वामी हैं। जैसा कि अनेक स्थलों पर कहा जा चुका है (*मम माया दुरत्यया*), भगवान् का दावा है कि यद्यपि भौतिक शक्ति अत्यन्त प्रबल है, किन्तु वह उनके वश में रहती है और जो भी उनकी शरण ग्रहण कर लेता है, वह इस माया के वश से बाहर निकल आता है। यदि कृष्ण का शरणागत जीव माया के प्रभाव से बाहर निकल सकता है, तो भला परमेश्वर जो सम्पूर्ण विराट जगत् का सृजन, पालन तथा संहारकर्ता है, हम लोगों जैसा शरीर कैसे धारण कर सकता है? अतः कृष्ण विषयक ऐसी धारणा मूर्खतापूर्ण है। फिर भी मूर्ख व्यक्ति यह नहीं समझ सकते कि सामान्य व्यक्ति के रूप में प्रकट होने वाले भगवान् कृष्ण समस्त परमाणुओं तथा इस विराट ब्रह्माण्ड के नियन्ता किस तरह हो सकते हैं। बृहत्तम तथा सूक्ष्मतम तो उनकी विचार शक्ति से परे होते हैं, अतः वे यह सोच भी नहीं सकते कि मनुष्य-जैसा रूप कैसे एक साथ विशाल को तथा अणु को वश में कर सकता है। यद्यपि कृष्ण असीम तथा ससीम को नियन्त्रित करते हैं, किन्तु वे इस जगत् से विलग रहते हैं। उनके *योगमैश्वरम्* या अचिन्त्य दिव्य शक्ति के विषय में

कहा गया है कि वे एकसाथ ससीम तथा असीम को वश में रख सकते हैं, तो भी वे उनसे पृथक् रहते हैं। यद्यपि मूर्ख लोग यह सोच भी नहीं पाते कि मनुष्य रूप में उत्पन्न होकर कृष्ण किस तरह असीम तथा ससीम को वश में कर सकते हैं, किन्तु जो शुद्धभक्त हैं वे इसे स्वीकार करते हैं, क्योंकि उन्हें पता है कि कृष्ण भगवान् हैं। अतः वे पूर्णतया उनकी शरण में जाते हैं और कृष्णभावनामृत में रहकर कृष्ण की भक्ति में अपने को रत रखते हैं।

सगुणवादियों तथा निर्गुणवादियों में भगवान् के मनुष्य रूप में प्रकट होने को लेकर काफी मतभेद है। किन्तु यदि हम *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* जैसे प्रामाणिक ग्रंथों का अनुशीलन कृष्णतत्त्व समझने के लिए करें तो हम समझ सकते हैं कि कृष्ण श्रीभगवान् हैं। यद्यपि वे इस धराधाम में सामान्य व्यक्ति की भाँति प्रकट हुए थे, किन्तु वे सामान्य व्यक्ति हैं नहीं। *श्रीमद्भागवत* में (१.१.२०) जब शौनक आदि मुनियों ने सूत गोस्वामी से कृष्ण के कार्यकलापों के विषय में पूछा तो उन्होंने कहा—

कृतवान् किल कर्माणि सह रामेण केशवः ।

अतिमर्त्यानि भगवान् गूढः कपटमानुषः ॥

“भगवान् श्रीकृष्ण ने बलराम के साथ-साथ मनुष्य की भाँति क्रीड़ा की और इस तरह प्रच्छन्न रूप में उन्होंने अनेक अतिमानवीय कार्य किये।” मनुष्य के रूप में भगवान् का प्राकट्य मूर्ख को मोहित बना देता है। कोई भी मनुष्य उन अलौकिक कार्यों को सम्पन्न नहीं कर सकता जिन्हें उन्होंने इस धरा पर करके दिखा दिया था। जब कृष्ण अपने पिता तथा माता (वसुदेव तथा देवकी) के समक्ष प्रकट हुए तो वे चार भुजाओं से युक्त थे। किन्तु माता-पिता की प्रार्थना पर उन्होंने एक सामान्य शिशु का रूप धारण कर लिया—*बभूव प्राकृतः शिशुः (भागवत १०.३.४६)*। वे एक सामान्य शिशु, एक सामान्य मानव बन गये। यहाँ पर भी यह इंगित होता है कि सामान्य व्यक्ति के रूप में प्रकट होना उनके दिव्य शरीर का एक गुण है। *भगवद्गीता* के ग्यारहवें अध्याय में भी कहा गया है कि अर्जुन ने कृष्ण से अपना चतुर्भुज रूप दिखलाने के लिए प्रार्थना की (*तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन*)। इस रूप को प्रकट करने के बाद अर्जुन के प्रार्थना करने पर

उन्होंने पूर्व मनुष्य रूप धारण कर लिया (*मानुषं रूपम्*)। भगवान् के ये विभिन्न गुण निश्चय ही सामान्य मनुष्य जैसे नहीं हैं।

कतिपय लोग, जो कृष्ण का उपहास करते हैं और मायावादी दर्शन से प्रभावित होते हैं, *श्रीमद्भागवत* के निम्नलिखित श्लोक (३.२९.२१) को यह सिद्ध करने के लिए उद्धृत करते हैं कि कृष्ण एक सामान्य व्यक्ति थे। *अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा*—परमेश्वर समस्त जीवों में विद्यमान हैं। अच्छा हो कि इस श्लोक को हम जीव गोस्वामी तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर जैसे वैष्णव आचार्यों से ग्रहण करें, न कि कृष्ण का उपहास करने वाले अनधिकारी व्यक्तियों की व्याख्याओं से। जीव गोस्वामी इस श्लोक की टीका करते हुए कहते हैं कि कृष्ण समस्त चराचरों में अपने अंश विस्तार परमात्मा के रूप में स्थित हैं। अतः कोई भी नवदीक्षित भक्त जो मन्दिर में भगवान् की अर्चामूर्ति पर ही ध्यान देता है और अन्य जीवों का सम्मान नहीं करता वह वृथा ही मन्दिर में भगवान् की पूजा में लगा रहता है। भगवद्भक्तों के तीन प्रकार हैं, जिनमें से नवदीक्षित सबसे निम्न श्रेणी के हैं। नवदीक्षित भक्त अन्य भक्तों की अपेक्षा मन्दिर के अर्चाविग्रह पर अधिक ध्यान देते हैं, अतः विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर चेतावनी देते हैं कि इस प्रकार की मानसिकता को सुधारना चाहिए। भक्त को समझना चाहिए कि चूँकि कृष्ण परमात्मा रूप में प्रत्येक जीव के हृदय में विद्यमान हैं, अतः प्रत्येक व्यक्ति परमेश्वर का निवास या मन्दिर है, इसलिए जिस तरह कोई भक्त भगवान् के मन्दिर का सम्मान करता है, वैसे ही उसे प्रत्येक जीव का सम्मान करना चाहिए, जिसमें परमात्मा निवास करता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति का समुचित सम्मान करना चाहिए, कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

ऐसे अनेक निर्विशेषवादी हैं जो मन्दिरपूजा का उपहास करते हैं। वे कहते हैं कि चूँकि भगवान् सर्वत्र हैं तो फिर अपने को हम मन्दिरपूजा तक ही सीमित क्यों रखें? यदि ईश्वर सर्वत्र हैं तो क्या वे मन्दिर या अर्चाविग्रह में नहीं होंगे? यद्यपि सगुणवादी तथा निर्विशेषवादी निरन्तर लड़ते रहेंगे, किन्तु कृष्णभावनामृत में पूर्ण भक्त यह जानता है कि यद्यपि कृष्ण भगवान् हैं, किन्तु इसके साथ वे सर्वव्यापी भी हैं, जिसकी पुष्टि *ब्रह्मसंहिता* में हुई

है। यद्यपि उनका निजी धाम गोलोक वृन्दावन है और वे वहीं निरन्तर वास करते हैं, किन्तु वे अपनी शक्ति की विभिन्न अभिव्यक्तियों द्वारा तथा अपने स्वांश द्वारा भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत् में सर्वत्र विद्यमान रहते हैं।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।

राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

मोघ-आशा:—निष्फल आशा; मोघ-कर्माणः—निष्फल सकाम कर्म; मोघ-ज्ञाना:—विफल ज्ञान; विचेतसः—मोहग्रस्त; राक्षसीम्—राक्षसी; आसुरीम्—आसुरी; च—तथा; एव—निश्चय ही; प्रकृतिम्—स्वभाव को; मोहिनीम्—मोहने वाली; श्रिताः—शरण ग्रहण किये हुए।

जो लोग इस प्रकार मोहग्रस्त होते हैं, वे आसुरी तथा नास्तिक विचारों के प्रति आकृष्ट रहते हैं। इस मोहग्रस्त अवस्था में उनकी मुक्ति-आशा, उनके सकाम कर्म तथा ज्ञान का अनुशीलन सभी निष्फल हो जाते हैं।

तात्पर्य

ऐसे अनेक भक्त हैं जो अपने को कृष्णभावनामृत तथा भक्ति में रत दिखलाते हैं, किन्तु अन्तःकरण से वे भगवान् कृष्ण को परब्रह्म नहीं मानते। ऐसे लोगों को कभी भी भक्ति-फल—भगवद्धाम गमन—प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार जो पुण्यकर्मों में लगे रहकर अन्ततोगत्वा इस भवबन्धन से मुक्त होना चाहते हैं, वे भी सफल नहीं हो पाते, क्योंकि वे कृष्ण का उपहास करते हैं। दूसरे शब्दों में, जो लोग कृष्ण पर हँसते हैं, उन्हें आसुरी या नास्तिक समझना चाहिए। जैसा कि सातवें अध्याय में बताया जा चुका है, ऐसे आसुरी दुष्ट कभी भी कृष्ण की शरण में नहीं जाते। अतः परम सत्य तक पहुँचने के उनके मानसिक चिन्तन उन्हें इस मिथ्या परिणाम को प्राप्त कराते हैं कि सामान्य जीव तथा कृष्ण एक समान हैं। ऐसी मिथ्या धारणा के कारण वे सोचते हैं कि अभी तो यह शरीर प्रकृति द्वारा केवल आच्छादित है और ज्योंही व्यक्ति मुक्त होगा, तो उसमें तथा ईश्वर में कोई अन्तर नहीं रह जाएगा। कृष्ण से समता का यह प्रयास भ्रम के कारण

निष्फल हो जाता है। इस प्रकार का आसुरी तथा नास्तिक ज्ञान-अनुशीलन सदैव व्यर्थ रहता है, यही इस श्लोक का संकेत है। ऐसे व्यक्तियों के लिए वेदान्त सूत्र तथा उपनिषदों जैसे वैदिक वाङ्मय के ज्ञान का अनुशीलन सदा निष्फल होता है।

अतः भगवान् कृष्ण को सामान्य व्यक्ति मानना घोर अपराध है। जो ऐसा करते हैं वे निश्चित रूप से मोहग्रस्त रहते हैं, क्योंकि वे कृष्ण के शाश्वत रूप को नहीं समझ पाते। *बृहद्विष्णु स्मृति* का कथन है—

यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः ।

स सर्वस्माद् बहिष्कार्यः श्रौतस्मार्तविधानतः ।

मुखं तस्यावलोक्यापि सचेलं स्नानमाचरेत् ॥

“जो कृष्ण के शरीर को भौतिक मानता है उसे श्रुति तथा स्मृति के समस्त अनुष्ठानों से वंचित कर देना चाहिए। यदि कोई भूल से उसका मुँह देख ले तो उसे तुरन्त गंगा स्नान करना चाहिए, जिससे छूत दूर हो सके।” लोग कृष्ण की हँसी उड़ाते हैं क्योंकि वे भगवान् से ईर्ष्या करते हैं। उनके भाग्य में जन्म-जन्मान्तर नास्तिक तथा असुर योनियों में रहे आना लिखा है। उनका वास्तविक ज्ञान सदैव के लिए भ्रम में रहेगा और धीरे-धीरे वे सृष्टि के गहनतम अन्धकार में गिरते जायेंगे।”

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।

भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

महा-आत्मानः—महापुरुष; तु—लेकिन; माम्—मुझको; पार्थ—हे पृथापुत्र; दैवीम्—दैवी; प्रकृतिम्—प्रकृति के; आश्रिताः—शरणागत; भजन्ति—सेवा करते हैं; अनन्य-मनसः—अविचलित मन से; ज्ञात्वा—जानकर; भूत—सृष्टि का; आदिम्—उद्गम; अव्ययम्—अविनाशी।

हे पार्थ! मोहमुक्त महात्माजन दैवी प्रकृति के संरक्षण में रहते हैं। वे पूर्णतः भक्ति में निमग्न रहते हैं क्योंकि वे मुझे आदि तथा अविनाशी भगवान् के रूप में जानते हैं।

तात्पर्य

इस श्लोक में *महात्मा* का वर्णन हुआ है। महात्मा का सबसे पहला लक्षण यह है कि वह दैवी प्रकृति में स्थित रहता है। वह भौतिक प्रकृति के अधीन नहीं होता और यह होता कैसे है? इसकी व्याख्या सातवें अध्याय में की गई है—जो भगवान् श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करता है वह तुरन्त ही भौतिक प्रकृति के वश से मुक्त हो जाता है। यही वह पात्रता है। ज्योंही कोई भगवान् का शरणागत हो जाता है वह भौतिक प्रकृति के वश से मुक्त हो जाता है। यही मूलभूत सूत्र है। तटस्था शक्ति होने के कारण जीव ज्योंही भौतिक प्रकृति के वश से मुक्त होता है त्योंही वह आध्यात्मिक प्रकृति के निर्देशन में चला जाता है। आध्यात्मिक प्रकृति का निर्देशन ही दैवी प्रकृति कहलाती है। इस प्रकार से जब कोई भगवान् के शरणागत होता है तो उसे *महात्मा* पद की प्राप्ति होती है।

महात्मा अपने ध्यान को कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी ओर नहीं ले जाता, क्योंकि वह भलीभाँति जानता है कि कृष्ण ही आदि परम पुरुष, समस्त कारणों के कारण हैं। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। ऐसा महात्मा अन्य महात्माओं या शुद्धभक्तों की संगति से प्रगति करता है। शुद्धभक्त तो कृष्ण के अन्य स्वरूपों, यथा चतुर्भुज महाविष्णु रूप से भी आकृष्ट नहीं होते। वे न तो कृष्ण के अन्य किसी रूप से आकृष्ट होते हैं, न ही वे देवताओं या मनुष्यों के किसी रूप की परवाह करते हैं। वे कृष्णभावनामृत में केवल कृष्ण का ध्यान करते हैं। वे कृष्णभावनामृत में निरन्तर भगवान् की अविचल सेवा में लगे रहते हैं।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।

नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

सततम्—निरन्तर; कीर्तयन्तः—कीर्तन करते हुए; माम्—मेरे विषय में; यतन्तः—प्रयास करते हुए; च—भी; दृढ-व्रताः—संकल्पपूर्वक; नमस्यन्तः—नमस्कार करते हुए; च—तथा; माम्—मुझको; भक्त्या—भक्ति में; नित्य-युक्ताः—सदैव रत रहकर; उपासते—पूजा करते हैं।

ये महात्मा मेरी महिमा का नित्य कीर्तन करते हुए दृढसंकल्प के साथ प्रयास करते हुए, मुझे नमस्कार करते हुए, भक्तिभाव से निरन्तर मेरी पूजा करते हैं।

तात्पर्य

सामान्य पुरुष को रबर की मुहर लगाकर महात्मा नहीं बनाया जाता। यहाँ पर उसके लक्षणों का वर्णन किया गया है—महात्मा सदैव भगवान् कृष्ण के गुणों का कीर्तन करता रहता है, उसके पास कोई दूसरा कार्य नहीं रहता। वह सदैव कृष्ण के गुण-गान में व्यस्त रहता है। दूसरे शब्दों में, वह निर्विशेषवादी नहीं होता। जब गुण-गान का प्रश्न उठे तो मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् के पवित्र नाम, उनके नित्य रूप, उनके दिव्य गुणों तथा उनकी असामान्य लीलाओं की प्रशंसा करते हुए परमेश्वर को महिमामन्वित करे। उसे इन सारी वस्तुओं को महिमामन्वित करना होता है, अतः महात्मा भगवान् के प्रति आसक्त रहता है।

जो व्यक्ति परमेश्वर के निराकार रूप, *ब्रह्मज्योति*, के प्रति आसक्त होता है उसे *भगवद्गीता* में महात्मा नहीं कहा गया। उसे अगले श्लोक में अन्य प्रकार से वर्णित किया गया है। महात्मा सदैव भक्ति के विविध कार्यों में, यथा विष्णु के श्रवण-कीर्तन में, व्यस्त रहता है, जैसा कि *श्रीमद्भागवत* में उल्लेख है। यही भक्ति *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः तथा स्मरणं* है। ऐसा महात्मा अन्ततः भगवान् के पाँच दिव्य रसों में से किसी एक रस में उनका सान्निध्य प्राप्त करने के लिए दृढव्रत होता है। इसे प्राप्त करने के लिए वह *मनसा वाचा कर्मणा* अपने सारे कार्यकलाप भगवान् कृष्ण की सेवा में लगाता है। यही पूर्ण कृष्णभावनामृत कहलाता है।

भक्ति में कुछ कार्य हैं जिन्हें *दृढव्रत* कहा जाता है, यथा प्रत्येक एकादशी को तथा भगवान् के आविर्भाव दिवस (जन्माष्टमी) पर उपवास करना। ये सारे विधि-विधान महान आचार्यों द्वारा उन लोगों के लिए बनाये गये हैं जो दिव्यलोक में भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करने के इच्छुक हैं। महात्माजन इन विधि-विधानों का दृढ़ता से पालन करते हैं। फलतः उनके लिए वाञ्छित फल की प्राप्ति निश्चित रहती है।

जैसा कि इसी अध्याय के द्वितीय श्लोक में कहा गया है, यह भक्ति न केवल सरल है अपितु, इसे सुखपूर्वक किया जा सकता है। इसके लिए कठिन तपस्या करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। मनुष्य सक्षम गुरु के निर्देशन में इस जीवन को गृहस्थ, संन्यासी या ब्रह्मचारी रहते हुए भक्ति में बिता सकता है। वह संसार में किसी भी अवस्था में कहीं भी भगवान् की भक्ति करके वास्तव में महात्मा बन सकता है।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।

एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

ज्ञान-यज्ञेन—ज्ञान के अनुशीलन द्वारा; च—भी; अपि—निश्चय ही; अन्ये—अन्य लोग; यजन्तः—यज्ञ करते हुए; माम्—मुझको; उपासते—पूजते हैं; एकत्वेन—एकान्त भाव से; पृथक्त्वेन—द्वैतभाव से; बहुधा—अनेक प्रकार से; विश्वतः—मुखम्—विश्व रूप में।

अन्य लोग जो ज्ञान के अनुशीलन द्वारा यज्ञ में लगे रहते हैं, वे भगवान् की पूजा उनके अद्वय रूप में, विविध रूपों में तथा विश्व रूप में करते हैं।

तात्पर्य

यह श्लोक पिछले श्लोकों का सारांश है। भगवान् अर्जुन को बताते हैं कि जो विशुद्ध कृष्णभावनामृत में लगे रहते हैं और कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं जानते, वे महात्मा कहलाते हैं। तो भी कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो वास्तव में महात्मा पद को प्राप्त नहीं होते, किन्तु वे भी विभिन्न प्रकारों से कृष्ण की पूजा करते हैं। इनमें से कुछ का वर्णन आर्त, अर्थार्थी, ज्ञानी तथा जिज्ञासु के रूप में किया जा चुका है। किन्तु फिर भी कुछ ऐसे भी लोग होते हैं जो इनसे भी निम्न होते हैं। इन्हें तीन कोटियों में रखा जाता है—१) परमेश्वर तथा अपने को एक मानकर पूजा करने वाले, २) परमेश्वर के किसी मनोकल्पित रूप की पूजा करने वाले तथा ३) भगवान् के विश्व रूप की पूजा करने वाले। इनमें से सबसे अधम वे हैं जो अपने आपको अद्वैतवादी मानकर अपनी पूजा परमेश्वर के रूप में करते हैं और इन्हीं का प्राधान्य भी है। ऐसे लोग अपने को परमेश्वर मानते हैं और

इस मानसिकता के कारण वे अपनी पूजा आप करते हैं। यह भी एक प्रकार की ईशपूजा है, क्योंकि वे समझते हैं कि वे भौतिक पदार्थ न होकर आत्मा हैं। कम से कम, ऐसा भाव तो प्रधान रहता है। सामान्यतया निर्विशेषवादी इसी प्रकार से परमेश्वर को पूजते हैं। दूसरी कोटि के लोग वे हैं जो देवताओं के उपासक हैं, जो अपनी कल्पना से किसी भी स्वरूप को परमेश्वर का स्वरूप मान लेते हैं। तृतीय कोटि में वे लोग आते हैं जो इस ब्रह्माण्ड से परे कुछ भी नहीं सोच पाते। वे ब्रह्माण्ड को ही परम जीव या सत्ता मानकर उसकी उपासना करते हैं। यह ब्रह्माण्ड भी भगवान् का एक स्वरूप है।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहममौषधम् ।

मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; क्रतुः—वैदिक अनुष्ठान, कर्मकाण्ड; अहम्—मैं; यज्ञः—स्मार्त यज्ञ;
स्वधा—तर्पण; अहम्—मैं; अहम्—मैं; औषधम्—जड़ीबूटी; मन्त्रः—दिव्य ध्वनि;
अहम्—मैं; अहम्—मैं; एव—निश्चय ही; आज्यम्—घृत; अहम्—मैं; अग्निः—अग्नि;
अहम्—मैं; हुतम्—आहुति, भेंट।

किन्तु मैं ही कर्मकाण्ड, मैं ही यज्ञ, पितरों को दिया जाने वाला तर्पण, औषधि, दिव्य ध्वनि (मन्त्र), घी, अग्नि तथा आहुति हूँ।

तात्पर्य

ज्योतिष्टोम नामक वैदिक यज्ञ भी कृष्ण है। स्मृति में वर्णित महायज्ञ भी वही हैं। पितृलोक को अर्पित तर्पण या पितृलोक को प्रसन्न करने के लिए किया गया यज्ञ, जिसे घृत रूप में एक प्रकार की औषधि माना जाता है, वह भी कृष्ण ही है। इस सम्बन्ध में जिन मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है, वे भी कृष्ण हैं। यज्ञों में आहुति के लिए प्रयुक्त होने वाली दुग्ध से बनी अनेक वस्तुएँ भी कृष्ण हैं। अग्नि भी कृष्ण है, क्योंकि यह अग्नि पाँच तत्त्वों में से एक है, अतः वह कृष्ण की भिन्ना शक्ति कही जाती है। दूसरे शब्दों में, वेदों के कर्मकाण्ड भाग में प्रतिपादित वैदिक यज्ञ भी पूर्णरूप से कृष्ण हैं। अथवा यह कह सकते हैं कि जो लोग कृष्ण की

भक्ति में लगे हुए हैं उनके लिए यह समझना चाहिए कि उन्होंने सारे वेदविहित यज्ञ सम्पन्न कर लिए हैं।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।

वेद्यं पवित्रम् ॐकार ऋक्साम यजुरेव च ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

पिता—पिता; अहम्—मैं; अस्य—इस; जगतः—ब्रह्माण्ड का; माता—माता; धाता—आश्रयदाता; पितामहः—बाबा; वेद्यम्—जानने योग्य; पवित्रम्—शुद्ध करने वाला; ॐ-कार—ॐ अक्षर; ऋक्—ऋग्वेद; साम—सामवेद; यजुः—यजुर्वेद; एव—निश्चय ही; च—तथा ।

मैं इस ब्रह्माण्ड का पिता, माता, आश्रय तथा पितामह हूँ। मैं ज्ञेय (जानने योग्य), शुद्धिकर्ता तथा ओंकार हूँ। मैं ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद भी हूँ।

तात्पर्य

सारे चराचर विराट जगत की अभिव्यक्ति कृष्ण की शक्ति के विभिन्न कार्यकलापों से होती है। इस भौतिक जगत् में हम विभिन्न जीवों के साथ तरह-तरह के सम्बन्ध स्थापित करते हैं, जो कृष्ण की शक्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हैं। प्रकृति की सृष्टि में उनमें से कुछ हमारे माता, पिता के रूप में उत्पन्न होते हैं किन्तु वे कृष्ण के अंश ही हैं। इस दृष्टि से ये जीव जो हमारे माता, पिता आदि प्रतीत होते हैं वे कृष्ण के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। इस श्लोक में आए धाता शब्द का अर्थ स्रष्टा है। न केवल हमारे माता पिता कृष्ण के अंश रूप हैं, अपितु इनके स्रष्टा दादी तथा दादा कृष्ण हैं। वस्तुतः कोई भी जीव कृष्ण का अंश होने के कारण कृष्ण है। अतः सारे वेदों के लक्ष्य कृष्ण ही हैं। हम वेदों से जो भी जानना चाहते हैं वह कृष्ण को जानने की दिशा में होता है। जिस विषय से हमारी स्वाभाविक स्थिति शुद्ध होती है, वह कृष्ण है। इसी प्रकार जो जीव वैदिक नियमों को जानने के लिए जिज्ञासु रहता है, वह भी कृष्ण का अंश, अतः कृष्ण भी है। समस्त वैदिक मन्त्रों में ॐ शब्द, जिसे प्रणव कहा जाता है, एक दिव्य ध्वनि-कम्पन है और यह कृष्ण भी है। चूँकि चारों वेदों—ऋग्वेद, यजुर्वेद,

सामवेद तथा अथर्ववेद में प्रणव या ओंकार प्रधान है, अतः इसे कृष्ण समझना चाहिए।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

गतिः—लक्ष्य; भर्ता—पालक; प्रभुः—भगवान्; साक्षी—गवाह; निवासः—धाम; शरणम्—शरण; सु-हृत्—घनिष्ठ मित्र; प्रभवः—सृष्टि; प्रलयः—संहार; स्थानम्—भूमि, स्थिति; निधानम्—आश्रय, विश्राम स्थल; बीजम्—बीज, कारण; अव्ययम्—अविनाशी।

मैं ही लक्ष्य, पालनकर्ता, स्वामी, साक्षी, धाम, शरणस्थली तथा अत्यन्त प्रिय मित्र हूँ। मैं सृष्टि तथा प्रलय, सबका आधार, आश्रय तथा अविनाशी बीज भी हूँ।

तात्पर्य

गति का अर्थ है गन्तव्य या लक्ष्य, जहाँ हम जाना चाहते हैं। लेकिन चरमलक्ष्य तो कृष्ण हैं, यद्यपि लोग इसे जानते नहीं। जो कृष्ण को नहीं जानता वह पथभ्रष्ट हो जाता है और उसकी तथाकथित प्रगति या तो आंशिक होती है या फिर भ्रमपूर्ण। ऐसे अनेक लोग हैं जो देवताओं को ही अपना लक्ष्य बनाते हैं और तदनुसार कठोर नियमों का पालन करते हुए चन्द्रलोक, सूर्यलोक, इन्द्रलोक, महर्लोक जैसे विभिन्न लोकों को प्राप्त होते हैं। किन्तु ये सारे लोक कृष्ण की ही सृष्टि होने के कारण कृष्ण हैं और नहीं भी हैं। ऐसे लोक भी कृष्ण की शक्ति की अभिव्यक्तियाँ होने के कारण कृष्ण हैं, किन्तु वस्तुतः वे कृष्ण की अनुभूति की दिशा में सोपान का कार्य करते हैं। कृष्ण की विभिन्न शक्तियों तक पहुँचने का अर्थ है अप्रत्यक्षतः कृष्ण तक पहुँचना। अतः मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण तक सीधे पहुँचे, क्योंकि इससे समय तथा शक्ति की बचत होगी। उदाहरणार्थ, यदि किसी ऊँची इमारत की चोटी तक एलीवेटर (लिफ्ट) के द्वारा पहुँचने की सुविधा हो तो फिर एक-एक सीढ़ी करके ऊपर क्यों चढ़ा जाये? सब कुछ कृष्ण की शक्ति पर आश्रित है, अतः कृष्ण की शरण लिये बिना किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं हो सकता। कृष्ण परम शासक हैं, क्योंकि

सब कुछ उन्हीं का है और उन्हीं की शक्ति पर आश्रित है। प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित होने के कारण कृष्ण परम साक्षी हैं। हमारा घर, देश या लोक जहाँ पर हम रह रहे हैं, सब कुछ कृष्ण का है। शरण के लिए कृष्ण परम गन्तव्य हैं, अतः मनुष्य को चाहिए कि अपनी रक्षा या अपने कष्टों के विनाश के लिए कृष्ण की शरण ग्रहण करे। हम चाहे जहाँ भी शरण लें हमें जानना चाहिए कि हमारा आश्रय कोई जीवित शक्ति होनी चाहिए। कृष्ण परम जीव हैं। चूँकि कृष्ण हमारी उत्पत्ति के कारण या हमारे परमपिता हैं, अतः उनसे बढ़कर न तो कोई मित्र हो सकता है, न शुभचिन्तक। कृष्ण सृष्टि के आदि उद्गम और प्रलय के पश्चात् परम विश्रामस्थल हैं। अतः कृष्ण सभी कारणों के शाश्वत कारण हैं।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तपामि—ताप देता हूँ, गर्मी पहुँचाता हूँ; अहम्—मैं; अहम्—मैं; वर्षम्—वर्षा;
निगृह्णामि—रोके रहता हूँ; उत्सृजामि—भेजता हूँ; च—तथा; अमृतम्—अमरत्व; च—
तथा; एव—निश्चय ही; मृत्युः—मृत्यु; च—तथा; सत्—आत्मा; असत्—पदार्थ; च—
तथा; अहम्—मैं; अर्जुन—हे अर्जुन।

हे अर्जुन! मैं ही ताप प्रदान करता हूँ और वर्षा को रोकता तथा लाता हूँ। मैं अमरत्व हूँ और साक्षात् मृत्यु भी हूँ। आत्मा तथा पदार्थ (सत् तथा असत्) दोनों मुझ ही में हैं।

तात्पर्य

कृष्ण अपनी विभिन्न शक्तियों से विद्युत तथा सूर्य के द्वारा ताप तथा प्रकाश बिखेरते हैं। ग्रीष्म ऋतु में कृष्ण ही आकाश से वर्षा नहीं होने देते और वर्षा ऋतु में वे ही अनवरत वर्षा की झड़ी लगाते हैं। जो शक्ति हमें जीवन प्रदान करती है वह कृष्ण है और अंत में मृत्यु रूप में हमें कृष्ण मिलते हैं। कृष्ण की इन विभिन्न शक्तियों का विश्लेषण करने पर यह निश्चित हो जाता है कि कृष्ण के लिए पदार्थ तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं है, अथवा दूसरे शब्दों में, वे पदार्थ तथा आत्मा दोनों हैं। अतः

कृष्णभावनामृत की उच्च अवस्था में ऐसा भेद नहीं माना जाता। मनुष्य हर वस्तु में कृष्ण के ही दर्शन करता है।

चूँकि कृष्ण पदार्थ तथा आत्मा दोनों हैं, अतः समस्त भौतिक प्राकट्यों से युक्त यह विराट विश्व रूप भी कृष्ण है एवं वृन्दावन में दो भुजावाले वंशी वादन करते श्यामसुन्दर रूप में उनकी लीलाएँ उनके भगवान् रूप की होती हैं।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा

यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-

मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

त्रै-विद्या:—तीन वेदों के ज्ञाता; माम्—मुझको; सोम-पा:—सोम रसपान करने वाले; पूत—पवित्र; पापा:—पापों का; यज्ञै:—यज्ञों के साथ; इष्ट्वा—पूजा करके; स्व:-गतिम्—स्वर्ग की प्राप्ति के लिए; प्रार्थयन्ते—प्रार्थना करते हैं; ते—वे; पुण्यम्—पवित्र; आसाद्य—प्राप्त करके; सुर-इन्द्र—इन्द्र के; लोकम्—लोक को; अश्नन्ति—भोग करते हैं; दिव्यान्—दैवी; दिवि—स्वर्ग में; देव-भोगान्—देवताओं के आनन्द को।

जो वेदों का अध्ययन करते तथा सोमरस का पान करते हैं, वे स्वर्ग प्राप्ति की गवेषणा करते हुए अप्रत्यक्ष रूप से मेरी पूजा करते हैं। वे पापकर्मों से शुद्ध होकर, इन्द्र के पवित्र स्वर्गिक धाम में जन्म लेते हैं, जहाँ वे देवताओं का सा आनन्द भोगते हैं।

तात्पर्य

त्रैविद्या: शब्द तीन वेदों—साम, यजु: तथा ऋग्वेद—का सूचक है। जिस ब्राह्मण ने इन तीनों वेदों का अध्ययन किया है वह त्रिवेदी कहलाता है। जो इन तीनों वेदों से प्राप्त ज्ञान के प्रति आसक्त रहता है, उसका समाज में आदर होता है। दुर्भाग्यवश वेदों के ऐसे अनेक पण्डित हैं जो उनके अध्ययन के चरमलक्ष्य को नहीं समझते। इसीलिए कृष्ण अपने को त्रिवेदियों के लिए परमलक्ष्य घोषित करते हैं। वास्तविक त्रिवेदी भगवान्

के चरणकमलों की शरण ग्रहण करते हैं और भगवान् को प्रसन्न करने के लिए उनकी शुद्धभक्ति करते हैं। भक्ति का सूत्रपात हरे कृष्ण मन्त्र के कीर्तन तथा साथ-साथ कृष्ण को वास्तव में समझने के प्रयास से होता है। दुर्भाग्यवश जो लोग वेदों के नाममात्र के छात्र हैं वे इन्द्र तथा चन्द्र जैसे विभिन्न देवों को आहुति प्रदान करने में रुचि लेते हैं। ऐसे प्रयत्न से विभिन्न देवों के उपासक निश्चित रूप से प्रकृति के निम्न गुणों के कल्मष से शुद्ध हो जाते हैं। फलस्वरूप वे उच्चतर लोकों, यथा महर्लोक, जनलोक, तपलोक आदि को प्राप्त होते हैं। एक बार इन उच्च लोकों में पहुँच कर वहाँ इस लोक की तुलना में लाखों गुना अच्छी तरह इन्द्रियों की तुष्टि की जा सकती है।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।

एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना

गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; तम्—उसको; भुक्त्वा—भोग करके; स्वर्ग-लोकम्—स्वर्ग को; विशालम्—विस्तृत; क्षीणे—समाप्त हो जाने पर; पुण्ये—पुण्यकर्मों के फल; मर्त्य-लोकम्—मृत्युलोक में; विशन्ति—नीचे गिरते हैं; एवम्—इस प्रकार; त्रयी—तीनों वेदों के; धर्मम्—सिद्धान्तों के; अनुप्रपन्नाः—पालन करने वाले; गत-आगतम्—मृत्यु तथा जन्म को; काम-कामाः—इन्द्रियसुख चाहने वाले; लभन्ते—प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार जब वे (उपासक) विस्तृत स्वर्गिक इन्द्रियसुख को भोग लेते हैं और उनके पुण्यकर्मों के फल क्षीण हो जाते हैं तो वे इस मृत्युलोक में पुनः लौट आते हैं। इस प्रकार जो तीनों वेदों के सिद्धान्तों में दृढ़ रहकर इन्द्रियसुख की गवेषणा करते हैं, उन्हें जन्म-मृत्यु का चक्र ही मिल पाता है।

तात्पर्य

जो स्वर्गलोक प्राप्त करता है उसे दीर्घजीवन तथा विषयसुख की श्रेष्ठ सुविधाएँ प्राप्त होती हैं, तो भी उसे वहाँ सदा नहीं रहने दिया जाता।

पुण्यकर्मों के फलों के क्षीण होने पर उसे पुनः इस पृथ्वी पर भेज दिया जाता है। जैसा कि वेदान्तसूत्र में इंगित किया गया है, (जन्माद्यस्य यतः) जिसने पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं किया या जो समस्त कारणों के कारण कृष्ण को नहीं समझता, वह जीवन के चरमलक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाता। वह बारम्बार स्वर्ग को तथा फिर पृथ्वीलोक को जाता-आता रहता है, मानो वह किसी चक्र पर स्थित हो, जो कभी ऊपर जाता है और कभी नीचे आता है। सारांश यह है कि वह वैकुण्ठलोक न जाकर स्वर्ग तथा मृत्युलोक के बीच जन्म-मृत्यु चक्र में घूमता रहता है। अच्छा तो यह होगा कि सच्चिदानन्दमय जीवन भोगने के लिए वैकुण्ठलोक की प्राप्ति की जाये, क्योंकि वहाँ से इस दुखमय संसार में लौटना नहीं होता।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अनन्याः—जिसका कोई अन्य लक्ष्य न हो, अनन्य भाव से; चिन्तयन्तः—चिन्तन करते हुए; माम्—पुझको; ये—जो; जनाः—व्यक्ति; पर्युपासते—ठीक से पूजते हैं; तेषाम्—उन; नित्य—सदा; अभियुक्तानाम्—भक्ति में लीन मनुष्यों की; योग—आवश्यकताएँ; क्षेमम्—सुरक्षा, आश्रय; वहामि—वहन करता हूँ; अहम्—मैं।

किन्तु जो लोग अनन्यभाव से मेरे दिव्यस्वरूप का ध्यान करते हुए निरन्तर मेरी पूजा करते हैं, उनकी जो आवश्यकताएँ होती हैं, उन्हें मैं पूरा करता हूँ और जो कुछ उनके पास है, उसकी रक्षा करता हूँ।

तात्पर्य

जो एक क्षण भी कृष्णभावनामृत के बिना नहीं रह सकता, वह चौबीस घण्टे कृष्ण का चिन्तन करता है और श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, वन्दन, अर्चन, दास्य, सख्यभाव तथा आत्मनिवेदन के द्वारा भगवान् के चरणकमलों की सेवा में रत रहता है। ऐसे कार्य शुभ होते हैं और आध्यात्मिक शक्ति से पूर्ण होते हैं, जिससे भक्त को आत्म-साक्षात्कार होता है और उसकी यही एकमात्र कामना रहती है कि वह भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करे। ऐसा भक्त निश्चित रूप से बिना किसी कठिनाई के

भगवान् के पास पहुँचता है। यह योग कहलाता है। ऐसा भक्त भगवत्कृपा से इस संसार में पुनः नहीं आता। क्षेम का अर्थ है भगवान् द्वारा कृपामय संरक्षण। भगवान् योग द्वारा पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होने में सहायक बनते हैं और जब भक्त पूर्ण कृष्णभावनाभावित हो जाता है तो भगवान् उसे दुखमय बद्धजीवन में फिर से गिरने से उसकी रक्षा करते हैं।

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

ये—जो; अपि—भी; अन्य—दूसरे; देवता—देवताओं के; भक्ताः—भक्तगण;
यजन्ते—पूजते हैं; श्रद्धया अन्विताः—श्रद्धापूर्वक; ते—वे; अपि—भी; माम्—
मुझको; एव—केवल; कौन्तेय—हे कुन्तीपुत्र; यजन्ति—पूजा करते हैं; अविधि-
पूर्वकम्—त्रुटिपूर्ण ढंग से।

हे कुन्तीपुत्र! जो लोग अन्य देवताओं के भक्त हैं और उनकी श्रद्धापूर्वक पूजा करते हैं, वास्तव में वे भी मेरी ही पूजा करते हैं, किन्तु वे यह त्रुटिपूर्ण ढंग से करते हैं।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण का कथन है “जो लोग अन्य देवताओं की पूजा में लगे होते हैं, वे अधिक बुद्धिमान नहीं होते, यद्यपि ऐसी पूजा अप्रत्यक्षतः मेरी ही पूजा है।” उदाहरणार्थ, जब कोई मनुष्य वृक्ष की जड़ों में पानी न डालकर उसकी पत्तियों तथा टहनियों में डालता है, तो वह ऐसा इसलिए करता है क्योंकि उसे पर्याप्त ज्ञान नहीं होता या वह नियमों का ठीक से पालन नहीं करता। इसी प्रकार शरीर के विभिन्न अंगों की सेवा करने का अर्थ है आमाशय में भोजन की पूर्ति करना। इसी तरह विभिन्न देवता भगवान् की सरकार के विभिन्न अधिकारी तथा निर्देशक हैं। मनुष्य को अधिकारियों या निर्देशकों द्वारा नहीं अपितु सरकार द्वारा निर्मित नियमों का पालन करना होता है। इसी प्रकार हर एक को परमेश्वर की ही पूजा करनी होती है। इससे भगवान् के सारे अधिकारी तथा निर्देशक स्वतः प्रसन्न होंगे। अधिकारी तथा निर्देशक तो सरकार के प्रतिनिधि होते हैं, अतः इन्हें घूस

देना अवैध है। यहाँ पर इसी को *अविधिपूर्वकम्* कहा गया है। दूसरे शब्दों में कृष्ण अन्य देवताओं की व्यर्थ पूजा का समर्थन नहीं करते।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।

न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; हि—निश्चित रूप से; सर्व—समस्त; यज्ञानाम्—यज्ञों का; भोक्ता—भोग करने वाला; च—तथा; प्रभुः—स्वामी; एव—भी; च—तथा; न—नहीं; तु—लेकिन; माम्—मुझको; अभिजानन्ति—जानते हैं; तत्त्वेन—वास्तव में; अतः—अतएव; च्यवन्ति—नीचे गिरते हैं; ते—वे।

मैं ही समस्त यज्ञों का एकमात्र भोक्ता तथा स्वामी हूँ। अतः जो लोग मेरे वास्तविक दिव्य स्वभाव को नहीं पहचान पाते, वे नीचे गिर जाते हैं।

तात्पर्य

यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि वैदिक साहित्य में अनेक प्रकार के यज्ञ-अनुष्ठानों का आदेश है, किन्तु वस्तुतः वे सब भगवान् को ही प्रसन्न करने के निमित्त हैं। यज्ञ का अर्थ है विष्णु। *भगवद्गीता* के तृतीय अध्याय में यह स्पष्ट कथन है कि मनुष्य को चाहिए कि यज्ञ या विष्णु को प्रसन्न करने के लिए ही कर्म करे। मानवीय सभ्यता का समग्ररूप वर्णाश्रम धर्म है और यह विशेष रूप से विष्णु को प्रसन्न करने के लिए है। इसीलिए इस श्लोक में कृष्ण कहते हैं, “मैं समस्त यज्ञों का भोक्ता हूँ, क्योंकि मैं परम प्रभु हूँ।” किन्तु अल्पज्ञ इस तथ्य से अवगत न होने के कारण क्षणिक लाभ के लिए देवताओं को पूजते हैं। अतः वे इस संसार में आ गिरते हैं और उन्हें जीवन का लक्ष्य प्राप्त नहीं हो पाता। यदि किसी को अपनी भौतिक इच्छा की पूर्ति करनी हो तो अच्छा यही होगा कि वह इसके लिए परमेश्वर से प्रार्थना करे (यद्यपि यह शुद्धभक्ति नहीं है) और इस प्रकार उसे वांछित फल प्राप्त हो सकेगा।

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः ।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

यान्ति—जाते हैं; देव-व्रताः—देवताओं के उपासक; देवान्—देवताओं के पास;
पितृन्—पितरों के पास; यान्ति—जाते हैं; पितृ-व्रताः—पितरों के उपासक; भूतानि—
भूत-प्रेतों के पास; यान्ति—जाते हैं; भूत-इज्याः—भूत-प्रेतों के उपासक; यान्ति—
जाते हैं; मत्—मेरे; याजिनः—भक्तगण; अपि—लेकिन; माम्—मेरे पास ।

जो देवताओं की पूजा करते हैं, वे देवताओं के बीच जन्म लेंगे, जो पितरों को पूजते हैं, वे पितरों के पास जाते हैं, जो भूत-प्रेतों की उपासना करते हैं, वे उन्हीं के बीच जन्म लेते हैं और जो मेरी पूजा करते हैं वे मेरे साथ निवास करते हैं ।

तात्पर्य

यदि कोई चन्द्रमा, सूर्य या अन्य लोक को जाना चाहता है तो वह अपने गन्तव्य को बताये गये विशिष्ट वैदिक नियमों का पालन करके प्राप्त कर सकता है। इनका विशद वर्णन वेदों के कर्मकाण्ड अंश *दर्शपौर्णमासी* में हुआ है, जिसमें विभिन्न लोकों में स्थित देवताओं के लिए विशिष्ट पूजा का विधान है। इसी प्रकार विशिष्ट यज्ञ करके पितृलोक प्राप्त किया जा सकता है। इसी प्रकार मनुष्य भूत-प्रेत लोकों में जाकर यक्ष, रक्ष या पिशाच बन सकता है। पिशाच पूजा को काला जादू कहते हैं। अनेक लोग इस काले जादू का अभ्यास करते हैं और सोचते हैं कि यह अध्यात्म है, किन्तु ऐसे कार्यकलाप नितान्त भौतिकतावादी हैं। इसी तरह शुद्धभक्त केवल भगवान् की पूजा करके निस्सन्देह वैकुण्ठलोक तथा कृष्णलोक की प्राप्ति करता है। इस श्लोक के माध्यम से यह समझना सुगम है कि जब देवताओं की पूजा करके कोई स्वर्ग प्राप्त कर सकता है, तो फिर शुद्धभक्त कृष्ण या विष्णु के लोक क्यों नहीं प्राप्त कर सकता? दुर्भाग्यवश अनेक लोगों को कृष्ण तथा विष्णु के दिव्यलोकों की सूचना नहीं है, अतः न जानने के कारण वे नीचे गिर जाते हैं। यहाँ तक कि निर्विशेषवादी भी ब्रह्मज्योति से नीचे गिरते हैं। इसीलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन इस दिव्य सूचना को समूचे मानव समाज में वितरित करता है कि केवल हरे कृष्ण

मन्त्र के जाप से ही मनुष्य सिद्ध हो सकता है और भगवद्धाम को वापस जा सकता है।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

पत्रम्—पत्ती; पुष्पम्—फूल; फलम्—फल; तोयम्—जल; यः—जो कोई; मे—मुझको; भक्त्या—भक्तिपूर्वक; प्रयच्छति—भेंट करता है; तत्—वह; अहम्—मैं; भक्ति-उपहृतम्—भक्तिभाव से अर्पित; अश्नामि—स्वीकार करता हूँ; प्रयत-आत्मनः—शुद्धचेतना वाले से।

यदि कोई प्रेम तथा भक्ति के साथ मुझे पत्र, पुष्प, फल या जल प्रदान करता है, तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ।

तात्पर्य

नित्य सुख के लिए स्थायी, आनन्दमय धाम प्राप्त करने हेतु बुद्धिमान व्यक्ति के लिए यह अनिवार्य है कि वह कृष्णभावनाभावित होकर भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में तत्पर रहे। ऐसा आश्चर्यमय फल प्राप्त करने की विधि इतनी सरल है कि निर्धन से निर्धन व्यक्ति को योग्यता का विचार किये बिना इसे पाने का प्रयास करना चाहिए। इसके लिए एकमात्र योग्यता इतनी ही है कि वह भगवान् का शुद्धभक्त हो। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि कोई क्या है और कहाँ स्थित है। यह विधि इतनी सरल है कि यदि प्रेमपूर्वक एक पत्ती, थोड़ा सा जल या फल ही भगवान् को अर्पित किया जाता है तो भगवान् उसे सहर्ष स्वीकार करते हैं। अतः किसी को भी कृष्णभावनामृत से रोका नहीं जा सकता, क्योंकि यह सरल है और व्यापक है। ऐसा कौन मूर्ख होगा जो इस सरल विधि से कृष्णभावनाभावित नहीं होना चाहेगा और सच्चिदानन्दमय जीवन की परम सिद्धि नहीं चाहेगा? कृष्ण को केवल प्रेमाभक्ति चाहिए और कुछ भी नहीं। कृष्ण तो अपने शुद्धभक्त से एक छोटा सा फूल तक ग्रहण करते हैं। किन्तु अभक्त से वे कोई भेंट नहीं चाहते। उन्हें किसी से कुछ भी नहीं चाहिए, क्योंकि वे आत्मतुष्ट हैं, तो भी वे अपने भक्त की भेंट प्रेम तथा स्नेह के विनिमय में स्वीकार करते हैं। कृष्णभावनामृत विकसित करना जीवन का चरमलक्ष्य

है। इस श्लोक में भक्ति शब्द का उल्लेख दो बार यह घोषित करने के लिए हुआ है कि भक्ति ही कृष्ण के पास पहुँचने का एकमात्र साधन है। किसी अन्य शर्त से, यथा ब्राह्मण, विद्वान्, धनी या महान विचारक होने से, कृष्ण किसी प्रकार की भेंट लेने को तैयार नहीं होते। भक्ति ही मूलसिद्धान्त है, जिसके बिना वे किसी से कुछ भी लेने के लिए प्रेरित नहीं किये जा सकते। भक्ति कभी हैतुकी नहीं होती। यह शाश्वत विधि है। यह परमब्रह्म की सेवा में प्रत्यक्ष कर्म है।

यह बतला कर कि वे ही एकमात्र भोक्ता, आदि स्वामी और समस्त यज्ञ-भेंटों के वास्तविक लक्ष्य हैं, अब भगवान् कृष्ण यह बताते हैं कि वे किस प्रकार की भेंट पसंद करते हैं। यदि कोई शुद्ध होने तथा जीवन के लक्ष्य तक पहुँचने के उद्देश्य से भगवद्भक्ति करना चाहता है तो उसे चाहिए कि वह पता करे कि भगवान् उससे क्या चाहते हैं। कृष्ण से प्रेम करने वाला उन्हें उनकी इच्छित वस्तु देगा और कोई ऐसी वस्तु भेंट नहीं करेगा जिसकी उन्हें इच्छा न हो, या उन्होंने न माँगी हो। इस प्रकार कृष्ण को मांस, मछली तथा अण्डे भेंट नहीं किये जाने चाहिए। यदि उन्हें इन वस्तुओं की इच्छा होती तो वे इनका उल्लेख करते। उल्टे वे स्पष्ट आदेश देते हैं कि उन्हें पत्र, पुष्प, जल तथा फल अर्पित किये जायें और वे इन्हें स्वीकार करेंगे। अतः हमें यह समझना चाहिए कि वे मांस, मछली तथा अण्डे स्वीकार नहीं करेंगे। शाक, अन्न, फल, दूध तथा जल—ये ही मनुष्यों के उचित भोजन हैं और भगवान् कृष्ण ने भी इन्हीं का आदेश दिया है। इनके अतिरिक्त हम जो भी खाते हों, वह उन्हें अर्पित नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे उसे ग्रहण नहीं करेंगे। यदि हम ऐसा भोजन उन्हें अर्पित करेंगे तो हम प्रेमाभक्ति नहीं कर सकेंगे।

तृतीय अध्याय के तेरहवें श्लोक में श्रीकृष्ण बताते हैं कि यज्ञ का उच्छिष्ट ही शुद्ध होता है, अतः जो लोग जीवन में प्रगति करने तथा भवबन्धन से मुक्त होने के इच्छुक हैं, उन्हें इसी को खाना चाहिए। उसी श्लोक में वे यह भी बताते हैं कि जो लोग अपने भोजन को अर्पित नहीं करते वे पाप भक्षण करते हैं। दूसरे शब्दों में, उनका प्रत्येक कौर इस संसार की जटिलताओं में उन्हें बाँधने वाला है। अच्छा सरल शाकाहारी भोजन

बनाकर उसे भगवान् कृष्ण के चित्र या अर्चाविग्रह के समक्ष अर्पित करके तथा नतमस्तक होकर इस तुच्छ भेंट को स्वीकार करने की प्रार्थना करने से मनुष्य अपने जीवन में निरन्तर प्रगति करता है, उसका शरीर शुद्ध होता है और मस्तिष्क के श्रेष्ठ तन्तु उत्पन्न होते हैं, जिससे शुद्ध चिन्तन हो पाता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि यह समर्पण अत्यन्त प्रेमपूर्वक करना चाहिए। कृष्ण को किसी तरह के भोजन की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि उनके पास सब कुछ है, किन्तु यदि कोई उन्हें इस प्रकार प्रसन्न करना चाहता है, तो वे इस भेंट को स्वीकार करते हैं। भोजन बनाने, सेवा करने तथा भेंट करने में जो सबसे मुख्य बात रहती है, वह है कृष्ण के प्रेमवश कर्म करना।

वे मायावादी चिन्तक *भगवद्गीता* के इस श्लोक का अर्थ नहीं समझ सकेंगे, जो यह मानकर चलते हैं कि परब्रह्म इन्द्रियरहित है। उनके लिए यह या तो रूपक है या *भगवद्गीता* के उद्धोषक कृष्ण के मानवीय चरित्र का प्रमाण है। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि भगवान् कृष्ण इन्द्रियों से युक्त हैं और यह कहा गया है कि उनकी इन्द्रियाँ परस्पर परिवर्तनशील हैं। दूसरे शब्दों में, एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय का कार्य कर सकती है। कृष्ण को परम ब्रह्म कहने का आशय यही है। इन्द्रियरहित होने पर उन्हें समस्त ऐश्वर्यों से युक्त नहीं माना जा सकता। सातवें अध्याय में कृष्ण ने बतलाया है कि वे प्रकृति के गर्भ में जीवों को स्थापित करते हैं। इसे वे प्रकृति पर दृष्टिपात करके करते हैं। अतः यहाँ पर भी भक्तों द्वारा भोजन अर्पित करते हुए भक्तों का प्रेमपूर्ण शब्द सुनना कृष्ण के द्वारा भोजन करने तथा उसके स्वाद लेने के ही समरूप है। इस बात पर इसलिए बल देना होगा क्योंकि अपनी सर्वोच्च स्थिति के कारण उनका सुनना उनके भोजन करने तथा स्वाद ग्रहण करने के ही समरूप है। केवल भक्त ही बिना तर्क के यह समझ सकता है कि परब्रह्म भोजन कर सकते हैं और उसका स्वाद ले सकते हैं।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो कुछ; करोषि—करते हो; यत्—जो भी; अश्नासि—खाते हो; यत्—जो कुछ; जुहोषि—अर्पित करते हो; ददासि—दान देते हो; यत्—जो; यत्—जो भी; तपस्यसि—तप करते हो; कौन्तेय—हे कुन्तीपुत्र; तत्—वह; कुरुष्व—करो; मत्—मुझको; अर्पणम्—भेंट रूप में।

हे कुन्तीपुत्र! तुम जो कुछ करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ अर्पित करते हो या दान देते हो और जो भी तपस्या करते हो, उसे मुझे अर्पित करते हुए करो।

तात्पर्य

इस प्रकार यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि अपने जीवन को इस प्रकार ढाले कि वह किसी भी दशा में कृष्ण को न भूल सके। प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन-निर्वाह के लिए कर्म करना पड़ता है और कृष्ण यहाँ पर आदेश देते हैं कि हर व्यक्ति उनके लिए ही कर्म करे। प्रत्येक व्यक्ति को जीवित रहने के लिए कुछ न कुछ खाना पड़ता है अतः उसे चाहिए कि कृष्ण को अर्पित भोजन के उच्छिष्ट को ग्रहण करे। प्रत्येक व्यक्ति को कुछ न कुछ धार्मिक अनुष्ठान करने होते हैं, अतः कृष्ण की संस्तुति है, “इसे मेरे हेतु करो”। यही अर्चन है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ दान देता है, अतः कृष्ण कहते हैं, “यह मुझे दो” जिसका अर्थ यह है कि अधिक धन का उपयोग कृष्णभावनामृत आन्दोलन की उन्नति के लिए करो। आजकल लोग ध्यान विधि के प्रति विशेष रुचि दिखाते हैं, यद्यपि इस युग के लिए यह व्यावहारिक नहीं है, किन्तु यदि कोई चौबीस घण्टे हरे कृष्ण का जप अपनी माला में करे तो वह निश्चित रूप से महानतम ध्यानी तथा योगी है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* के छठे अध्याय में की गई है।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।

सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

शुभ—शुभ; अशुभ—अशुभ; फलैः—फलों के द्वारा; एवम्—इस प्रकार; मोक्ष्यसे—मुक्त हो जाओगे; कर्म—कर्म के; बन्धनैः—बन्धन से; सन्न्यास—संन्यास के; योग—

योग से; युक्त-आत्मा—मन को स्थिर करके; विमुक्तः—मुक्त हुआ; माम्—मुझे;
उपैष्यसि—प्राप्त होंगे।

इस तरह तुम कर्म के बन्धन तथा इसके शुभाशुभ फलों से मुक्त हो सकोगे। इस संन्यासयोग में अपने चित्त को स्थिर करके तुम मुक्त होकर मेरे पास आ सकोगे।

तात्पर्य

गुरु के निर्देशन में कृष्णभावनामृत में रहकर कर्म करने को युक्त कहते हैं। पारिभाषिक शब्द युक्त-वैराग्य है। श्रीरूप गोस्वामी ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है (भक्तिरसामृत सिन्धु २.२५५) —

अनासक्तस्य विषयान्यथार्हमुपयुञ्जतः ।

निर्बन्धः कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते ॥

श्रीरूप गोस्वामी कहते हैं कि जब तक हम इस जगत् में हैं, तब तक हमें कर्म करना पड़ता है, हम कर्म करना बन्द नहीं कर सकते। अतः यदि कर्म करके उसके फल कृष्ण को अर्पित कर दिये जायँ तो यह युक्तवैराग्य कहलाता है। वस्तुतः संन्यास में स्थित होने पर ऐसे कर्मों से चित्त रूपी दर्पण स्वच्छ हो जाता है और कर्ता ज्यों-ज्यों क्रमशः आत्म-साक्षात्कार की ओर प्रगति करता जाता है, त्यों-त्यों वह परमेश्वर के प्रति पूर्णतया समर्पित होता रहता है। अतएव अन्त में वह मुक्त हो जाता है और यह मुक्ति भी विशिष्ट होती है। इस मुक्ति से वह ब्रह्मज्योति में तदाकार नहीं होता, अपितु भगवद्धाम में प्रवेश करता है। यहाँ स्पष्ट उल्लेख है— माम् उपैष्यसि—वह मेरे पास आता है, अर्थात् मेरे धाम वापस आता है। मुक्ति की पाँच विभिन्न अवस्थाएँ हैं और यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि जो भक्त जीवन भर परमेश्वर के निर्देशन में रहता है, वह ऐसी अवस्था को प्राप्त हुआ रहता है, जहाँ से वह शरीर त्यागने के बाद भगवद्धाम जा सकता है और भगवान् की प्रत्यक्ष संगति में रह सकता है।

जिस व्यक्ति में अपने जीवन को भगवत्सेवा में रत रखने के अतिरिक्त अन्य कोई रुचि नहीं होती, वही वास्तविक संन्यासी है। ऐसा व्यक्ति भगवान् की परम इच्छा पर आश्रित रहते हुए अपने को उनका नित्य दास मानता है। अतः वह जो कुछ करता है, भगवान् के लाभ के लिए करता

है। वह जो कुछ कर्म करता है, भगवान् की सेवा करने के लिए करता है। वह सकामकर्मी या वेदवर्णित कर्तव्यों पर ध्यान नहीं देता। सामान्य मनुष्यों के लिए वेदवर्णित कर्तव्यों को सम्पन्न करना अनिवार्य होता है। किन्तु शुद्धभक्त भगवान् की सेवा में पूर्णतया रत होकर भी कभी-कभी वेदों द्वारा अनुमोदित कर्तव्यों का विरोध करता प्रतीत होता है, जो वस्तुतः विरोध नहीं है।

अतः वैष्णव आचार्यों का कथन है कि बुद्धिमान से बुद्धिमान व्यक्ति भी शुद्धभक्त की योजनाओं तथा कार्यों को नहीं समझ सकता। ठीक शब्द हैं—*तारं वाक्य, क्रिया, मुद्रा विज्ञेह ना बुझय (चैतन्यचरितामृत, मध्य २३.३९)*। इस प्रकार जो व्यक्ति भगवान् की सेवा में रत है, या जो निरन्तर योजना बनाता रहता है कि किस तरह भगवान् की सेवा की जाये, उसे ही वर्तमान में पूर्णतया मुक्त मानना चाहिए और भविष्य में उसका भगवद्धाम जाना ध्रुव है। जिस प्रकार कृष्ण आलोचना से परे हैं, उसी प्रकार वह भक्त भी सारी भौतिक आलोचना से परे हो जाता है।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

समः—समभाव; अहम्—मैं; सर्व-भूतेषु—समस्त जीवों में; न—कोई नहीं; मे—मुझको; द्वेष्यः—द्वेषपूर्ण; अस्ति—है; न—न तो; प्रियः—प्रिय; ये—जो; भजन्ति—दिव्यसेवा करते हैं; तु—लेकिन; माम्—मुझको; भक्त्या—भक्ति से; मयि—मुझमें हैं; ते—वे व्यक्ति; तेषु—उनमें; च—भी; अपि—निश्चय ही; अहम्—मैं।

मैं न तो किसी से द्वेष करता हूँ, न ही किसी के साथ पक्षपात करता हूँ। मैं सबों के लिए समभाव हूँ। किन्तु जो भी भक्तिपूर्वक मेरी सेवा करता है, वह मेरा मित्र है, मुझमें स्थित रहता है और मैं भी उसका मित्र हूँ।

तात्पर्य

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब कृष्ण का सबों के लिए समभाव है और उनका कोई विशिष्ट मित्र नहीं है तो फिर वे उन भक्तों में

विशेष रुचि क्यों लेते हैं, जो उनकी दिव्यसेवा में सदैव लगे रहते हैं? किन्तु यह भेदभाव नहीं है, यह तो सहज है। इस जगत् में हो सकता है कि कोई व्यक्ति अत्यन्त उपकारी हो, किन्तु तो भी वह अपनी सन्तानों में विशेष रुचि लेता है। भगवान् का कहना है कि प्रत्येक जीव, चाहे वह जिस योनि का हो, उनका पुत्र है, अतः वे हर एक को जीवन की आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करते हैं। वे उस बादल के सदृश हैं जो सबों के ऊपर जलवृष्टि करता है, चाहे यह वृष्टि चट्टान पर हो या स्थल पर, या जल में हो। किन्तु भगवान् अपने भक्तों का विशेष ध्यान रखते हैं। ऐसे ही भक्तों का यहाँ उल्लेख हुआ है—वे सदैव कृष्णभावनामृत में रहते हैं, फलतः वे निरन्तर कृष्ण में लीन रहते हैं। कृष्णभावनामृत शब्द ही बताता है कि जो लोग ऐसे भावनामृत में रहते हैं वे सजीव अध्यात्मवादी हैं और उन्हीं में स्थित हैं। भगवान् यहाँ स्पष्ट रूप से कहते हैं—*मयि ते अर्थात् वे मुझमें हैं। फलतः भगवान् भी उनमें हैं। इससे ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्* की भी व्याख्या हो जाती है—जो भी मेरी शरण में आ जाता है, उसकी मैं उसी रूप में रखवाली करता हूँ। यह दिव्य आदान-प्रदान भाव विद्यमान रहता है, क्योंकि भक्त तथा भगवान् दोनों सचेतन हैं। जब हीरे को सोने की आँगूठी में जड़ दिया जाता है तो वह अत्यन्त सुन्दर लगता है। इससे सोने की महिमा बढ़ती है, किन्तु साथ ही हीरे की भी महिमा बढ़ती है। भगवान् तथा जीव निरन्तर चमकते रहते हैं और जब कोई जीव भगवान् की सेवा में प्रवृत्त होता है तो वह सोने की भाँति दिखता है। भगवान् हीरे के समान हैं, अतः यह संयोग अत्युत्तम होता है। शुद्ध अवस्था में जीव भक्त कहलाते हैं। परमेश्वर अपने भक्तों के भी भक्त बन जाते हैं। यदि भगवान् तथा भक्त में आदान-प्रदान का भाव न रहे तो सगुणवादी दर्शन ही न रहे। मायावादी दर्शन में परमेश्वर तथा जीव के मध्य ऐसा आदान-प्रदान का भाव नहीं मिलता, किन्तु सगुणवादी दर्शन में ऐसा होता है।

प्रायः यह दृष्टान्त दिया जाता है कि भगवान् कल्पवृक्ष के समान हैं और मनुष्य इस वृक्ष से जो भी माँगता है, भगवान् उसकी पूर्ति करते हैं। किन्तु यहाँ पर जो व्याख्या दी गई है वह अधिक पूर्ण है। यहाँ पर भगवान्

को भक्त का पक्ष लेने वाला कहा गया है। यह भक्त के प्रति भगवान् की विशेष कृपा की अभिव्यक्ति है। भगवान् के आदान-प्रदान भाव को कर्म के नियम के अन्तर्गत नहीं मानना चाहिए। यह तो उस दिव्य अवस्था से सम्बन्धित रहता है जिसमें भगवान् तथा उनके भक्त कर्म करते हैं। भगवद्भक्ति इस जगत का कार्य नहीं है, यह तो उस अध्यात्म जगत का अंश है, जहाँ शाश्वत आनन्द तथा ज्ञान का प्राधान्य रहता है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अपि—भी; चेत्—यदि; सु-दुराचारः—अत्यन्त गृहित कर्म करने वाला; भजते—सेवा करता है; माम्—मेरी; अनन्य-भाक्—बिना विचलित हुए; साधुः—साधु पुरुष; एव—निश्चय ही; सः—वह; मन्तव्यः—मानने योग्य; सम्यक्—पूर्णतया; व्यवसितः—संकल्प वाला; हि—निश्चय ही; सः—वह।

यदि कोई जघन्य से जघन्य कर्म करता है, किन्तु यदि वह भक्ति में रत रहता है तो उसे साधु मानना चाहिए, क्योंकि वह अपने संकल्प में अडिग रहता है।

तात्पर्य

इस श्लोक का सुदुराचारः शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, अतः हमें इसे ठीक से समझना होगा। जब मनुष्य बद्ध रहता है तो उसके दो प्रकार के कर्म होते हैं—प्रथम बद्ध और द्वितीय स्वाभाविक। जिस प्रकार शरीर की रक्षा करने या समाज तथा राज्य के नियमों का पालन करने के लिए तरह-तरह के कर्म करने होते हैं, उसी प्रकार से बद्ध जीवन के प्रसंग में भक्तों के लिए कर्म होते हैं, जो बद्ध कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त, जो जीव अपने आध्यात्मिक स्वभाव से पूर्णतया भिन्न रहता है और कृष्णभावनामृत में या भगवद्भक्ति में लगा रहता है, उसके लिए भी कर्म होते हैं, जो दिव्य कहलाते हैं। ऐसे कार्य उसकी स्वाभाविक स्थिति में सम्पन्न होते हैं और शास्त्रीय दृष्टि से भक्ति कहलाते हैं। बद्ध अवस्था में कभी-कभी भक्ति और शरीर की बद्ध सेवा एक दूसरे के समान्तर चलती हैं। किन्तु पुनः कभी-कभी वे एक दूसरे के विपरीत हो जाती हैं। जहाँ तक सम्भव होता है, भक्त

सतर्क रहता है कि वह कोई ऐसा कार्य न करे, जिससे यह अनुकूल स्थिति भंग हो। वह जानता है कि उसकी कर्म-सिद्धि उसके कृष्णभावनामृत की अनुभूति की प्रगति पर निर्भर करती है। किन्तु कभी-कभी यह देखा जाता है कि कृष्णभावनामृत में रत व्यक्ति सामाजिक या राजनीतिक दृष्टि से निन्दनीय कार्य कर बैठता है। किन्तु इस प्रकार के क्षणिक पतन से वह अयोग्य नहीं हो जाता। *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति पतित हो जाय, किन्तु यदि भगवान् की दिव्य सेवा में लगा रहे तो हृदय में वास करने वाले भगवान् उसे शुद्ध कर देते हैं और उस निन्दनीय कार्य के लिए क्षमा कर देते हैं। भौतिक कल्मष इतना प्रबल है कि भगवान् की सेवा में लगा योगी भी कभी-कभी उसके जाल में आ फँसता है। लेकिन कृष्णभावनामृत इतना शक्तिशाली होता है कि इस प्रकार का आकस्मिक पतन तुरन्त रुक जाता है। इसलिए भक्तियोग सदैव सफल होता है। किसी भक्त के आदर्श पथ से अकस्मात् च्युत होने पर हँसना नहीं चाहिए, क्योंकि जैसा कि अगले श्लोक में बताया गया है ज्योंही भक्त कृष्णभावनामृत में पूर्णतया स्थित हो जाता है, ऐसे आकस्मिक पतन कुछ समय के पश्चात् रुक जाते हैं।

अतः जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत में स्थित है और अनन्य भाव से हरे कृष्ण मन्त्र का जप करता है, उसे दिव्य स्थिति में आसीन समझना चाहिए, भले ही दैववशात् उसका पतन क्यों न हो चुका हो। *साधुरेव* शब्द अत्यन्त प्रभावात्मक हैं। ये अभक्तों को सावधान करते हैं कि आकस्मिक पतन के कारण भक्त का उपहास नहीं किया जाना चाहिए, उसे तब भी साधु ही मानना चाहिए। *मन्तव्यः* शब्द तो इससे भी अधिक बलशाली है। यदि कोई इस नियम को नहीं मानता और भक्त पर उसके पतन के कारण हँसता है तो वह भगवान् के आदेश की अवज्ञा करता है। भक्त की एकमात्र योग्यता यह है कि वह अविचल तथा अनन्य भाव से भक्ति में तत्पर रहे।

नृसिंह पुराण में निम्नलिखित कथन प्राप्त है—

भगवति च हरावनन्यचेता

भृशमलिनोऽपि विराजते मनुष्यः ।

न हि शशकलुषच्छबिः कदाचित्

तिमिरपराभवतामुपैति चन्द्रः ॥

कहने का अर्थ यह है कि यदि भगवद्भक्ति में तत्पर व्यक्ति कभी घृणित कार्य करता पाया जाये तो इन कार्यों को उन धब्बों की तरह मान लेना चाहिए, जिस प्रकार चाँद में खरगोश के धब्बे हैं। इन धब्बों से चाँदनी के विस्तार में बाधा नहीं आती। इसी प्रकार साधु-पथ से भक्त का आकस्मिक पतन उसे निन्दनीय नहीं बनाता।

किन्तु इसी के साथ यह समझने की भूल नहीं करनी चाहिए कि दिव्य भक्ति करने वाला भक्त सभी प्रकार के निन्दनीय कर्म कर सकता है। इस श्लोक में केवल इसका उल्लेख है कि भौतिक सम्बन्धों की प्रबलता के कारण कभी कोई दुर्घटना हो सकती है। भक्ति तो एक प्रकार से माया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा है। जब तक मनुष्य माया से लड़ने के लिए पर्याप्त बलशाली नहीं होता, तब तक आकस्मिक पतन हो सकते हैं। किन्तु बलवान होने पर ऐसे पतन नहीं होते, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। मनुष्य को इस श्लोक का दुरुपयोग करते हुए अशोभनीय कर्म नहीं करना चाहिए और यह नहीं सोचना चाहिए कि इतने पर भी वह भक्त बना रह सकता है। यदि वह भक्ति के द्वारा अपना चरित्र नहीं सुधार लेता तो उसे उच्चकोटि का भक्त नहीं मानना चाहिए।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।

कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

क्षिप्रम्—शीघ्र; भवति—बन जाता है; धर्म—आत्मा—धर्मपरायण; शश्वत्—शान्तिम्—स्थायी शान्ति को; निगच्छति—प्राप्त करता है; कौन्तेय—हे कुन्तीपुत्र; प्रतिजानीहि—घोषित कर दो; न—कभी नहीं; मे—मेरा; भक्तः—भक्त; प्रणश्यति—नष्ट होता है।

वह तुरन्त धर्मात्मा बन जाता है और स्थायी शान्ति को प्राप्त होता है। हे कुन्तीपुत्र! निडर होकर घोषणा कर दो कि मेरे भक्त का कभी विनाश नहीं होता है।

तात्पर्य

इसका कोई दूसरा अर्थ नहीं लगाना चाहिए। सातवें अध्याय में भगवान् कहते हैं कि जो दुष्कृती है, वह भगवद्भक्त नहीं हो सकता। जो भगवद्भक्त नहीं है, उसमें कोई भी योग्यता नहीं होती। तब प्रश्न यह उठता है कि संयोगवश या स्वेच्छा से निन्दनीय कर्मों में प्रवृत्त होने वाला व्यक्ति किस प्रकार भक्त हो सकता है? यह प्रश्न ठीक ही है। जैसा कि सातवें अध्याय में कहा गया है, जो दुष्टात्मा कभी भक्ति के पास नहीं फटकता, उसमें कोई सद्गुण नहीं होते। *श्रीमद्भागवत* में भी इसका उल्लेख है। सामान्यतया नौ प्रकार के भक्ति-कार्यों में युक्त रहने वाला भक्त अपने हृदय को भौतिक कल्मष से शुद्ध करने में लगा होता है। वह भगवान् को अपने हृदय में बसाता है, फलतः उसके सारे पापपूर्ण कल्मष धुल जाते हैं। निरन्तर भगवान् का चिन्तन करने से वह स्वतः शुद्ध हो जाता है। वेदों के अनुसार ऐसा विधान है कि यदि कोई अपने उच्चपद से नीचे गिर जाता है तो अपनी शुद्धि के लिए उसे कुछ अनुष्ठान करने होते हैं। किन्तु यहाँ पर ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है, क्योंकि शुद्धि की क्रिया भगवान् का निरन्तर स्मरण करते रहने से पहले से ही भक्त के हृदय में चलती रहती है। अतः *हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे*—इस मन्त्र का अनवरत जप करना चाहिए। यह भक्त को आकस्मिक पतन से बचाएगा। इस प्रकार वह समस्त भौतिक कल्मषों से सदैव मुक्त रहेगा।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

माम्—मेरी; हि—निश्चय ही; पार्थ—हे पृथापुत्र; व्यपाश्रित्य—शरण ग्रहण करके;
ये—जो; अपि—भी; स्युः—हैं; पाप-योनयः—निम्नकुल में उत्पन्न; स्त्रियः—स्त्रियाँ;
वैश्याः—वणिक् लोग; तथा—भी; शूद्राः—निम्न श्रेणी के व्यक्ति; ते अपि—वे भी;
यान्ति—जाते हैं; पराम्—परम; गतिम्—गन्तव्य को।

हे पार्थ! जो लोग मेरी शरण ग्रहण करते हैं, वे भले ही निम्नजन्मा स्त्री, वैश्य (व्यापारी) तथा शूद्र (श्रमिक) क्यों न हों, वे परमधाम को प्राप्त करते हैं।

तात्पर्य

यहाँ पर भगवान् ने स्पष्ट कहा है कि भक्ति में उच्च तथा निम्न जाति के लोगों का भेद नहीं होता। भौतिक जीवन में ऐसा विभाजन होता है, किन्तु भगवान् की दिव्य भक्ति में लगे व्यक्ति पर यह लागू नहीं होता। सभी परमधाम के अधिकारी हैं। श्रीमद्भागवत में (२.४.१८) कथन है कि अधम योनि चाण्डाल भी शुद्ध भक्त के संसर्ग से शुद्ध हो जाते हैं। अतः भक्ति तथा शुद्ध भक्त द्वारा पथप्रदर्शन इतने प्रबल हैं कि वहाँ ऊँचनीच का भेद नहीं रह जाता और कोई भी इसे ग्रहण कर सकता है। शुद्ध भक्त की शरण ग्रहण करके सामान्य से सामान्य व्यक्ति शुद्ध हो सकता है। प्रकृति के विभिन्न गुणों के अनुसार मनुष्यों को सात्त्विक (ब्राह्मण), रजोगुणी (क्षत्रिय) तथा तामसी (वैश्य तथा शूद्र) कहा जाता है। इनसे भी निम्न पुरुष चाण्डाल कहलाते हैं और वे पापी कुलों में जन्म लेते हैं। सामान्य रूप से उच्चकुल वाले इन निम्नकुल में जन्म लेने वालों की संगति नहीं करते। किन्तु भक्तियोग इतना प्रबल होता है कि भगवद्भक्त समस्त निम्नकुल वाले व्यक्तियों को जीवन की परम सिद्धि प्राप्त करा सकते हैं। यह तभी सम्भव है जब कोई कृष्ण की शरण में जाये। जैसा कि व्यपाश्रित्य शब्द से सूचित है, मनुष्य को पूर्णतया कृष्ण की शरण ग्रहण करनी चाहिए। तब वह बड़े से बड़े ज्ञानी तथा योगी से भी महान बन सकता है।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या, कितना; पुनः—फिर; ब्राह्मणाः—ब्राह्मण; पुण्याः—धर्मात्मा; भक्ताः—भक्तगण; राज-ऋषयः—साधु राजे; तथा—भी; अनित्यम्—नाशवान; असुखम्—दुखमय; लोकम्—लोक को; इमम्—इस; प्राप्य—प्राप्त करके; भजस्व—प्रेमाभक्ति में लगे; माम्—मेरी।

फिर धर्मात्मा ब्राह्मणों, भक्तों तथा राजर्षियों के लिए तो कहना ही क्या है! अतः इस क्षणिक दुखमय संसार में आ जाने पर मेरी प्रेमाभक्ति में अपने आपको लगाओ।

तात्पर्य

इस संसार में कई श्रेणियों के लोग हैं, किन्तु तो भी यह संसार किसी के लिए सुखमय स्थान नहीं है। यहाँ स्पष्ट कहा गया है—*अनित्यम् असुखं लोकम्*—यह जगत् अनित्य तथा दुःखमय है और किसी भी भले मनुष्य के रहने लायक नहीं है। भगवान् इस संसार को क्षणिक तथा दुःखमय घोषित कर रहे हैं। कुछ दार्शनिक, विशेष रूप से मायावादी, कहते हैं कि यह संसार मिथ्या है, किन्तु *भगवद्गीता* से हम यह जान सकते हैं कि यह संसार मिथ्या नहीं है, यह अनित्य है। अनित्य तथा मिथ्या में अन्तर है। यह संसार अनित्य है, किन्तु एक दूसरा भी संसार है जो नित्य है। यह संसार दुःखमय है, किन्तु दूसरा संसार नित्य तथा आनन्दमय है।

अर्जुन का जन्म ऋषितुल्य राजकुल में हुआ था। अतः भगवान् उससे भी कहते हैं, “मेरी सेवा करो, और शीघ्र ही मेरे धाम को प्राप्त करो।” किसी को भी इस अनित्य संसार में नहीं रहना चाहिए, क्योंकि यह दुःखमय है। प्रत्येक व्यक्ति को भगवान् के हृदय से लगना चाहिए, जिससे वह सदैव सुखी रह सके। भगवद्भक्ति ही एकमात्र ऐसी विधि है जिसके द्वारा सभी वर्गों के लोगों की सारी समस्याएँ सुलझाई जा सकती हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति को कृष्णभावनामृत स्वीकार करके अपने जीवन को सफल बनाना चाहिए।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

मत्-मना:—सदैव मेरा चिन्तन करने वाला; भव—होओ; मत्—मेरा; भक्त:—भक्त;
मत्—मेरा; याजी—उपासक; माम्—मुझको; नमस्-कुरु—नमस्कार करो; माम्—
मुझको; एव—निश्चय ही; एष्यसि—पाओगे; युक्त्वा—लीन होकर; एवम्—इस
प्रकार; आत्मानम्—अपनी आत्मा को; मत्-परायणः—मेरी भक्ति में अनुरक्त।

अपने मन को मेरे नित्य चिन्तन में लगाओ, मेरे भक्त बनो, मुझे नमस्कार करो और मेरी ही पूजा करो। इस प्रकार मुझमें पूर्णतया तल्लीन होने पर तुम निश्चित रूप से मुझको प्राप्त होगे।

तात्पर्य

इस श्लोक में स्पष्ट इंगित है कि इस कल्मषग्रस्त भौतिक जगत् से छुटकारा पाने का एकमात्र साधन कृष्णभावनामृत है। कभी-कभी कपटी भाष्यकार इस स्पष्ट कथन का तोड़मरोड़ कर अर्थ करते हैं : कि सारी भक्ति भगवान् कृष्ण को समर्पित की जानी चाहिए। दुर्भाग्यवश ऐसे भाष्यकार पाठकों का ध्यान ऐसी बात की ओर आकर्षित करते हैं जो सम्भव नहीं है। ऐसे भाष्यकार यह नहीं जानते कि कृष्ण के मन तथा कृष्ण में कोई अन्तर नहीं है। कृष्ण कोई सामान्य मनुष्य नहीं हैं, वे परमेश्वर हैं। उनका शरीर, उनका मन तथा स्वयं वे एक हैं और परम हैं। जैसा कि *कूर्मपुराण* में कहा गया है और भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ने *चैतन्यचरितामृत* (पंचम अध्याय, आदि लीला ४१-४८) के अनुभाष्य में उद्धृत किया है—*देहदेहीविभेदोऽयं नेश्वरे विद्यते क्वचित्*—अर्थात् परमेश्वर कृष्ण में तथा उनके शरीर में कोई अन्तर नहीं है। लेकिन इस कृष्णतत्त्व को न जानने के कारण भाष्यकार कृष्ण को छिपाते हैं और उनको उनके मन या शरीर से पृथक् बताते हैं। यद्यपि यह कृष्णतत्त्व के प्रति निरी अज्ञानता है, किन्तु कुछ लोग जनता को भ्रमित करके धन कमाते हैं।

कुछ लोग आसुरी होते हैं, वे भी कृष्ण का चिन्तन करते हैं किन्तु ईर्ष्यावश, जिस तरह कि कृष्ण का मामा राजा कंस करता था। वह भी कृष्ण का निरन्तर चिन्तन करता रहता था, किन्तु वह उन्हें अपने शत्रु रूप में सोचता था। वह सदैव चिन्ताग्रस्त रहता था और सोचता रहता था कि न जाने कब कृष्ण उसका वध कर दें। इस प्रकार के चिन्तन से हमें कोई लाभ होने वाला नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि भक्तिमय प्रेम में उनका चिन्तन करे। यही भक्ति है। उसे चाहिए कि वह निरन्तर कृष्णतत्त्व का अनुशीलन करे। तो वह उपयुक्त अनुशीलन क्या है? यह प्रामाणिक गुरु से सीखना है। कृष्ण भगवान् हैं और हम कई बार कह चुके हैं कि उनका शरीर भौतिक नहीं है अपितु सच्चिदानन्द स्वरूप है। इस प्रकार की चर्चा से मनुष्य को भक्त बनने में सहायता मिलेगी। अन्यथा अप्रामाणिक साधन से कृष्ण का ज्ञान प्राप्त करना व्यर्थ होगा।

अतः मनुष्य को कृष्ण के आदि रूप में मन को स्थिर करना चाहिए, उसे अपने मन में यह दृढ़ विश्वास करके पूजा करने में प्रवृत्त होना चाहिए कि कृष्ण ही परम हैं। कृष्ण की पूजा के लिए भारत में हजारों मन्दिर हैं, जहाँ पर भक्ति का अभ्यास किया जाता है। जब ऐसा अभ्यास हो रहा हो तो मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण को नमस्कार करे। उसे अर्चाविग्रह के समक्ष नतमस्तक होकर मनसा वाचा कर्मणा हर प्रकार से प्रवृत्त होना चाहिए। इससे वह कृष्णभाव में पूर्णतया तल्लीन हो सकेगा। इससे वह कृष्णलोक को जा सकेगा। उसे चाहिए कि कपटी भाष्यकारों के बहकावे में न आए। उसे श्रवण, कीर्तन आदि नवधा भक्ति में प्रवृत्त होना चाहिए। शुद्ध भक्ति मानव समाज की चरम उपलब्धि है।

भगवद्गीता के सातवें तथा आठवें अध्यायों में भगवान् की ऐसी शुद्ध भक्ति की व्याख्या की गई है, जो कल्पना, योग तथा सकाम कर्म से मुक्त है। जो पूर्णतया शुद्ध नहीं हो पाते वे भगवान् के विभिन्न स्वरूपों द्वारा यथा निर्विशेषवादी ब्रह्मज्योति तथा अन्तर्यामी परमात्मा द्वारा आकृष्ट होते हैं, किन्तु शुद्ध भक्त तो परमेश्वर की साक्षात् सेवा करता है।

कृष्ण सम्बन्धी एक उत्तम पद्य में कहा गया है कि जो व्यक्ति देवताओं की पूजा में रत हैं, वे सर्वाधिक अज्ञानी हैं, उन्हें कभी भी कृष्ण का चरम वरदान प्राप्त नहीं हो सकता। हो सकता है कि प्रारम्भ में कोई भक्त अपने स्तर से नीचे गिर जाये, तो भी उसे अन्य सारे दार्शनिकों तथा योगियों से श्रेष्ठ मानना चाहिए। जो व्यक्ति निरन्तर कृष्ण भक्ति में लगा रहता है, उसे पूर्ण साधुपुरुष समझना चाहिए। क्रमशः उसके आकस्मिक भक्ति-विहीन कार्य कम होते जाएँगे और उसे शीघ्र ही पूर्ण सिद्धि प्राप्त होगी। वास्तव में शुद्ध भक्त के पतन का कभी कोई अवसर नहीं आता, क्योंकि भगवान् स्वयं ही अपने शुद्ध भक्तों की रक्षा करते हैं। अतः बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह सीधे कृष्णभावनामृत पथ को ग्रहण करे और संसार में सुखपूर्वक जीवन बिताए। अन्ततोगत्वा वह कृष्ण रूपी परम पुरस्कार प्राप्त करेगा।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के नवें अध्याय “परम गुह्य ज्ञान” का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।

